जैन धर्म की कहानियाँ

भाग-19

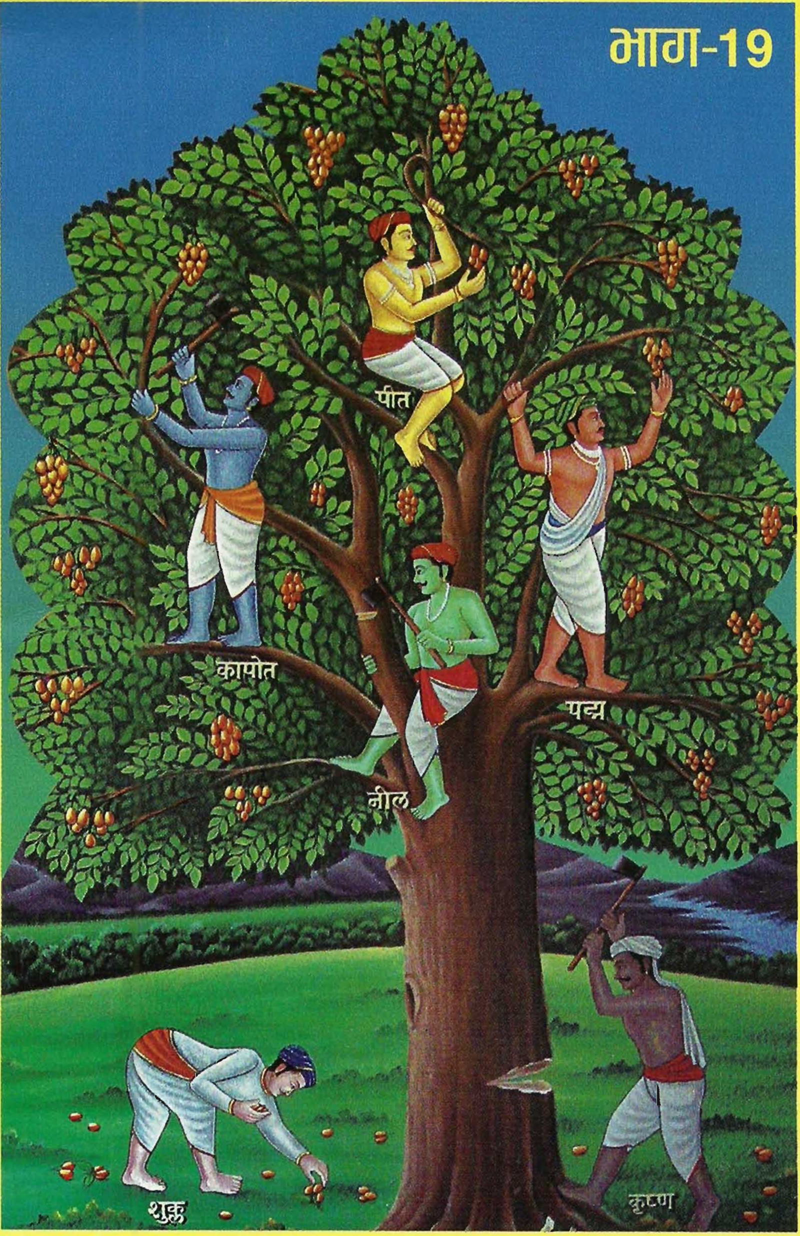

: प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़

कहान स्मृति प्रकाशन, सोनगढ़

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रंथमाला का २७वाँ पुष्प

जैनधर्म की कहानियाँ

(भाग–19)

:: सम्पादक ::

पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर

:: प्रकाशक ::

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन
महावीर चौक, खैरागढ़ – ४९१ ८८१ (छत्तीसगढ़)
और
श्री कहान स्मृति प्रकाशन
सन्त सान्निध्य, सोनगढ़ – ३६४ २५० (सौराष्ट्र)

प्रस्तुत संस्करण : 2200 प्रतियाँ
(27 फरवरी, 2012)
श्री आदिनाथ दिग. जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, जयपुर के अवसर पर

न्यौछावर – दस रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान –

1. **अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, शाखा – खैरागढ़**
   श्री खेमराज प्रेमचंद जैन, 'कहान-निकेतन'
   खैरागढ़ – 491881, जि. राजनाँदगाँव (म.प्र.)

2. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**
   ए-४, बापूनगर, जयपुर – 302015 (राज.)

3. **ब्र. ताराबेन मैनाबेन जैन**
   'कहान रश्मि',
   सोनगढ़ - 364250
   जि. भावनगर (सौराष्ट्र)

टाईप सेटिंग एवं मुद्रण –
जैन कम्प्यूटर्स,
ए-4, बापूनगर,
जयपुर - 302015
फैक्स : 0141-2708965
मोबा.: 094147 17816

卐 अनुक्रमणिका 卐

षट्लेश्या वृक्ष	९
राजा कीचक और द्रोपदी...	१६
रात्रिभोजन-त्याग...	१९
परम्पराएँ रखना या... ?	२०
स्वावलम्बन बढ़ाओ !	२७
श्री जीवन्धरस्वामी...	३१
संसार-वृक्ष	४८
ज्ञान के साथ विवेक	५६
तू तो सेठ है !	५८
सत्य का प्रभाव	६१
वह तो सुधर गया, पर...	६२
मनुष्यभव की सार्थकता...	६८
देखो ! स्वरूप की...	७२
जीवन का मोल समझो	७९

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन २६ दिसम्बर, १९८० को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, कैसेट लायब्रेरी, साप्ताहिक गोष्ठी आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं; साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् १९८८ में श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई। इस ग्रन्थमाला के परम शिरोमणि संरक्षक सदस्य २१००१/- में, संरक्षक शिरोमणि सदस्य ११००१/- में तथा परमसंरक्षक सदस्य ५००१/- में भी बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. २५०६ में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा।

तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग १ से १९ तक एवं लघु जिनवाणी संग्रह : अनुपम संग्रह, चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), पाहुड़ दोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट, अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स) – इसप्रकार २७ पुष्प प्रकाशित किये जा चुके हैं।

जैनधर्म की कहानियाँ भाग १९ के रूप में राजा कीचक और द्रोपदी की भवावलि, देखो ! स्वरूप की आराधना का फल, रात्रिभोजन-त्याग का फल, श्री जीवन्धरस्वामी का चारित्र, स्वावलम्बन बढ़ाओ ! आदि पौराणिक कथायें एवं षट्लेश्या, संसार-वृक्ष आदि सैद्धान्तिक कथाएँ और लघु बोधकथाएँ – इसप्रकार कुल १४ कहानियों को प्रकाशित किया गया है। ये कथाएँ जिनके द्वारा लिखी गई हैं, उनके नाम कहानी के ही साथ दिये गये हैं, हम उन सभी के हृदय से आभारी हैं, इनका संकलन एवं सम्पादन पण्डित रमेशचंद जैन शास्त्री, जयपुर ने किया है। अत: हम उनके भी आभारी हैं।

आशा है इन पौराणिक, सैद्धान्तिक एवं बोधकथाओं से पाठकगण अवश्य ही बोध प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे।

साहित्य प्रकाशन फण्ड, आजीवन ग्रन्थमाला शिरोमणि संरक्षक, परमसंरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन दातार महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत:

मोतीलाल जैन — **अध्यक्ष**

प्रेमचन्द जैन — **साहित्य प्रकाशन प्रमुख**

आवश्यक सूचना

पुस्तक प्राप्ति अथवा सहयोग हेतु राशि ड्राफ्ट द्वारा
"अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़" के नाम से भेजें।
हमारा बैंक खाता स्टेट बैंक आफ इण्डिया की खैरागढ़ शाखा में है।

श्री वीतरागाय नमः

षट्लेश्या वृक्ष

समता की प्राप्ति के लिये अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति का सूक्ष्मता से अवलोकरन करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मेरी प्रत्येक प्रवृत्ति काषायिक भावों से रंगी होती है। मन से विचारने का, वचन से बोलने का शरीर से चेष्टा करने का जो कुछ भी काम मैं करता हूँ वह सब किसी न किसी कषाय से प्रेरित होता है। हमें केवल बाहर की प्रवृत्ति दिखाई देती है परन्तु वह कषाय नहीं, जिसकी गुप्त प्रेरणा से कि वह अस्तित्व में आ रही है, तीक्ष्ण प्रज्ञा के द्वारा उन्हें पकड़े बिना उनकी निवृत्ति का पुरुषार्थ-सम्भव नहीं, और उनसे निवृत्त हुए बिना समता का स्वप्न देखना वास्तव में साधना का उपहास है। कषायानुरञ्जित मेरी इन प्रवृत्तियों को शास्त्रों में 'लेश्या' शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। इनका स्पष्ट प्रतिभास कराने के लिए गुरुजनों ने तीव्रता-मन्दता की अपेक्षा इन्हें छह भेदों में विभाजित किया है – तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम।

कलापूर्ण बनाने के लिए इन्हें छह रंगों से उपमित किया है, क्योंकि जीव के प्रतिक्षण के परिणाम इन कषायों से रंगे हुए होने के कारण ही चित्र-विचित्र दिखाई देते हैं। तीव्रतम भाव की उपमा कृष्ण या काले रंग से दी जाती है, तीव्रतर की नीले रंग से और तीव्रभाव की उपमा कापोत या कबूतर जैसे सलेटी रंग से दी जाती है। इसी प्रकार मन्द भाव की उपमा पीत या पीले रंग से, मन्दतर की पद्म या कमल सरीखे हलके गुलाबी रंग से, और मन्दतम भाव की उपमा शुक्ल या सफेद रंग से दी जाती है। यद्यपि जीव के शरीर भी इन छह में से किसी न किसी रंग के होते हैं, परन्तु यहाँ शरीर के रंग से प्रयोजन नहीं है, जीव के भावों में

उपमागत रंगों से प्रयोजन है। इसप्रकार कषायों या इच्छाओं में रंगे हुए चेतन के ये परिणाम या लेश्या छह प्रकार की होती हैं – कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म व शुक्ल। इन्हीं को विशेष स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देता हूँ।

एकबार छह मित्र मिलकर पिकनिक मनाने निकले। सुहावना-सुहावना समय, मन्द-मन्द शीतल वायु, आकास पर नृत्य करने वाली बादलों की छोटी-छोटी टोलियाँ, मानों प्रकृति के यौवन का प्रदर्शन कर रही थीं। छहों मित्रों के हृदय भी अरमानों से भरपूर थे। सब ही अपने-अपने विचारों में निमग्न चले जाते थे। नदी के मधुर गान ने उनके हृदय में और भी उमंग भर दी। वे भूल गए सब कुछ और खो गए इस सुन्दरता में।

आ हा हा हा ! कितना सुन्दर लगता है, और देखो मित्र इस ओर वाह-वाह काम बन गया, अब खूब आनन्द रहेगा, जी भरकर आम खायेंगे। सामने ही मद झरते पीले-पीले आमों से लदा एक वृक्ष खड़ा था। एक बार ललचाई-सी दृष्टि से देखा और स्वतः ही उनके पाँव उस ओर चलने लगे। छहों के हृदय में भिन्न-भिन्न विचार थे।

वृक्ष के पास पहुँचते ही अपने-अपने विचारों के अनुसार सब ही शीघ्रता से काम में जुट गए। एक व्यक्ति कहीं से एक कुल्हाड़ी उठा लाया, जिसे लेकर वह वृक्ष पर चढ़ गया और आमों से लदफद एक टहनी को काटने लगा। यह देखकर दूसरा मित्र उसकी मूर्खता पर हँसने लगा। बोला– "अरे मूर्ख ! क्यों परिश्रम व्यर्थ खोता है ? जितनी देर में इस टहनी को ऊपर जाकर काटेगा उतनी देर में तो नीचे वाला वह टहना ही सरलता से कट जाएगा। टहनी में तो दस पाँच ही आम लगे हैं, छहों का पेट न भरेगा। इस टहने में सैकड़ों लगे हैं, एकबार नीचे गिरा लो, फिर जी भरकर खाओ और साथ में घर भी बाँधकर ले जाओ।"

यह सुनकर नीचे खड़ा वह तीसरा मित्र अपनी हंसी रोक न सका और बोला– "अरे भोले ! यदि घर ही ले जाने हैं तो नीचे आओ मैं तुम्हें और भी सरल उपाय बताता हूँ। वृक्ष पर चढ़ने से तो चोट लगने का भय है, तथा अधिक लाभ भी नहीं है। नीचे ही खड़े रहकर इसे मूल से काट डालो। वृक्ष थोड़ी ही देर में नीचे गिर जाएगा, फिर बेखटके खाते रहना और जितने चाहो भरकर घर ले जाना। भैय्या! मैं तो एक छकड़ा लाकर सारा ही वृक्ष लादकर घर ले जाऊँगा। कई दिन आम खाऊँगा और सालभर ईंधन में रोटी पकाऊँगा। छकड़ेवाला अधिक से अधिक पाँच रुपया लेगा।" और ऐसा कहकर लगा मूल में कुठार चलाने।

शेष तीन मित्र अन्दर ही अन्दर पछताने लगे कि व्यर्थ ही इन दुष्टों के साथ आए, जिसका फल खायेंगे उसको ही जड़ से काट डालेंगे। धिक्कार है ऐसी कृतघ्नता को। कौन समझाए अब इनको। प्रभु इन्हें सद्बुद्धि प्रदान करें। साहस बटोरकर उनमें से एक बोला कि भो मित्र! तनिक ठहरो, मैं एक कथा सुनाता हूँ पहले वह सुन लो, फिर वृक्ष काटना। तीनों चुप हो गए और कथा प्रारम्भ हुई।

एकबार एक सिंह कीचड़ में फँस गया। बड़ी दयनीय थी उसकी व्यवस्था। बेचारा लाचार हो गया। कहाँ तो उसकी एक दहाड़ से सारा जंगल थरथरा जाता था और कहाँ आज वह ही सहायता के लिए प्रभु से प्रार्थना कर रहा है कि नाथ ! अब की बार बचा तो हिंसा न करूँगा, पत्ते ही खाकर निर्वाह कर लूँगा। प्रभु का नाम व्यर्थ नहीं जा सकता। एक पथिक उधर से आ निकला, सिंह की करुण पुकार ने उसके हृदय को पिघला दिया। यद्यपि भय था, परन्तु करुणा के सामने उसने न गिना और बेधड़क कीचड़ में घुसकर उस सिंह को बाहर निकाल दिया।

वह समझता था कि वह सिंह अपने उपकारी का घात करना कभी स्वीकार न करेगा, परन्तु उसकी आशा के विपरीत बंधन-मुक्त

होते ही एक भयानक गर्जना करके उस व्यक्ति को तत्काल ललकारा, "किधर जाता है, मैं तीन दिन का भूखा हूँ, तूने मुझे बन्धन से मुक्त किया है और तू ही मुझे भूख से मुक्त करेगा।" अब तो पथिक के पाँव तले की मिट्टी खिसकने लगी, वह घबरा गया, प्रभु के अतिरिक्त अब उसके लिये कोई शरण नहीं थी। उसने उसे याद किया, फलस्वरूप उसे एक विचार आया। वह सिंह से बोला कि भाई ! ऐसी कृतघ्नता उचित नहीं है। सिंह कब इस बात को स्वीकार कर सकता था, गरजकर बोला–"लोक का ऐसा ही व्यवहार है, तू अब मुझसे बचकर नहीं जा सकता।" पथिक को जब कोई उपाय न सूझा तो बोला कि अच्छा भाई ! किसी से इसका न्याय करालो।

व्यवहार कुशल सिंह ने यह बात सहर्ष स्वीकार कर ली, मानों उसे पूर्ण विश्वास था कि न्याय उसके विरुद्ध न जा सकेगा, क्योंकि वह जानता था कि मनुष्य से अधिक कृतघ्नी संसार में दूसरा नहीं है। दोनों मिलकर एक वृक्ष के पास पहुँचे और अपनी कथा कह सुनाई। वृक्ष बोला कि सिंह ठीक कहता है। कारण कि मनुष्य गर्मी से संतप्त होकर मेरे साये में सुख से विश्राम करता है, मेरे फलों के रस से अपनी प्यास बुझाता है, परन्तु फिर भी जाते हुए मेरी टहनी तोड़कर ले जाता है अथवा मुझे उखाड़कर चूल्हे का ईंधन बना लेता है। अतः इस कृतघ्नी के साथ कृतघ्नता का ही व्यवहार करना योग्य है।

निराश होकर वह आगे चला तो एक गाय मिली। उसको अपनी कथा सुनाई, पर वह भी पथिक के विरुद्ध ही बोली। कहने लगी कि अपनी जवानी में मैंने अपने बच्चों का पेट काटकर इस मनुष्य की सन्तान का पोषण किया, परन्तु बूढ़ी हो जाने पर यह निर्दयी मेरा सारा उपकार भूल गया और इसने मुझे कसाई के हवाले कर दिया। इसने मेरी खाल खिंचवाली और उसका जूता बनवाकर पाँव में पहिन लिया। अतः इस कृतघ्नी के साथ ऐसा ही व्यवहार करना योग्य है।

जहाँ भी वे गये न्याय सिंह के पक्ष में ही गया और सिंह ने उसे खा लिया। इसलिये भो मित्रो ! तुम्हें भी कुछ विवेक से काम लेना चाहिये। दूसरे की कृतघ्नता को तो तुम कृतघ्नता देखते हो, परन्तु अपनी इस बड़ी कृतघ्नता को नहीं देखते। जिस वृक्ष के आम आप खायेंगे उस पर ही कुठाराघात करते क्या आपका हृदय नहीं काँपता। नीचे उतर आओ भैया, नीचे उतर आओ, मैं तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ। मैं स्वयं वृक्ष पर चढ़कर तुम्हें भरपेट आम खिला दूँगा।

वह वृक्ष पर चढ़ गया और आमों के बड़े-बड़े गुच्छे तोड़कर नीचे डालने लगा। यह देखकर दूसरे मित्र से बोले बिना न रहा गया। बोला कि "मित्र ! तुम्हें भी विवेक नहीं है। क्या नहीं देख रहे हो कि इस गुच्छे में पके हुए आमों के साथ-साथ कच्चे भी टूट गये हैं, जो चार दिन के पश्चात् पककर किसी और व्यक्ति की सन्तुष्टि कर सकते थे, परन्तु अब तो ये व्यर्थ ही चले गये, न हमारे काम आये और न किसी अन्य के।

अतः आप नीचे आ जाइये, मैं स्वयं ऊपर चढ़कर तुम्हें पके-पके मीठे आम खिला दूँगा। यह कहकर वह वृक्ष पर चढ़ गया और चुन-चुनकर एक-एक आम तोड़कर नीचे गिराने लगा।

छठा व्यक्ति यह सब कुछ देख रहा था, परन्तु चुप था। क्या बोले, किसे समझाये ? उसकी सन्तोषपूर्ण बात को स्वीकार करने वाला यहाँ था ही कौन ? विद्वान लोग, मूर्खों को उपदेश नहीं देते। एक दिन की बात है कि वर्षा जोर से हो रही थी। एक वृक्ष के नीचे कुछ बन्दर ठिठुरे बैठे थे। वृक्ष पर कुछ बयों के घोंसले थे। वे बये सुखपूर्वक उन घोंसलों में बैठे प्रकृति की सुन्दरता का आनन्द ले रहे थे। बन्दरों की हालत देखकर वे हंसने लगे और बोले कि रे मूर्ख बन्दर ! तुझको ईश्वर ने दो हाथ दिये हैं, फिर भी तू अपना घर नहीं बना सकता। देख, हम छोटे-छोटे पक्षी भी कितने सुन्दर घोंसले बनाकर इनमें सुखपूर्वक रहते हैं। क्या तुझे देखकर लज्जा नहीं आती ? बस इतना सुनना था कि बन्दर का पारा चढ़ गया और उसने वृक्ष पर चढ़कर सब बयों के घोंसले तोड़ दिये और उनके अण्डे फोड़ दिये। इसी से ज्ञानी जनों ने कहा है –

"सीख ताको दीजिये जाको सीख सुहाय।
सीख न दीजिये बान्दरा, बैये का घर जाय॥"

– ऐसा सोचकर वह सन्तोषी व्यक्ति कुछ न बोला और पृथ्वी पर पहले से इधर-उधर पड़े हुए कुछ आमों को उठाकर पृथक् बैठ सुखपूर्वक खाने लगा।

इस उदाहरण पर से व्यक्ति की इच्छाओं व तृष्णाओं की तीव्रता व मन्दता का बड़ा सुन्दर परिचय मिलता है। पहिला व्यक्ति जो वृक्ष की जड़ पर कुल्हाड़ा चलाने लगा था अत्यन्त निकृष्ट तीव्रतम इच्छावाला था। उसकी कषाय कृष्ण वर्ण की थी अर्थात् वह कृष्ण-लेश्यावाला था।

टहने को काटनेवाला दूसरा व्यक्ति तीव्रतर इच्छावाला होने के कारण नील-लेश्यावाला था। टहनी को काटनेवाला तीसरा व्यक्ति तीव्र इच्छावाला होने के कारण कापोत-लेश्यावाला था। इसीप्रकार आमों का गुच्छा तोड़नेवाला चौथा व्यक्ति मन्द इच्छावाला होने के कारण पीत-लेश्यावाला था। केवल पके हुए आम तोड़नेवाला पाँचवाँ व्यक्ति मन्दतर इच्छावाला होने के कारण पद्म-लेश्यावाला था और वह अत्यन्त सन्तोषी छठा व्यक्ति मन्दतम इच्छावाला होने के कारण शुक्ल-लेश्यावाला था। इसप्रकार व्यक्ति की सर्व ही कषायों की तीव्रता व मन्दता का अनुमान कर लेना चाहिये।

जिसप्रकार यहाँ साधना के प्रकरण में कषायों की शक्ति दर्शाने के लिये लेश्या वृक्ष का यह चित्रण किया गया है। उसीप्रकार आगे 'धर्म का प्रयोजन' बताने के लिए, इच्छा गर्त की भयंकरता दर्शाने के लिये 'संसार वृक्ष' का कलापूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

ये दोनों चित्रण जैन आम्नाय में आ-बाल-गोपाल प्रसिद्ध हैं। यत्र-तत्र पुस्तकों में तथा मन्दिरों में लगे हुए मिलते हैं।

इन्हें केवल सजावट के लिये नहीं बनाये गये हैं।

वास्तव में ये दोनों ही चित्र आध्यात्मिक भावनाओं से तथा रहस्यपूर्ण उपदेशों से ओत-प्रोत हैं। अपने आन्तरिक भावों का दर्शन करते हुए तीव्र भावों से पीछे हटने में ही इनकी सजावट का सार्थक्य है।

इसमें ही कल्याण है। – शान्तिपथ प्रदर्शन से साभार

मन्दिर में श्रद्धा-भक्ति लेकर जाना और मन्दिर से ज्ञान-वैराग्य लेकर आना – तभी मन्दिर जाने की सार्थकता है।

राजा कीचक और द्रोपदी की भवावलि

एक विराट नाम का नगर, वहाँ राजा विराट, उसके सुदर्शना नाम की स्त्री उसके यहाँ पाँच पाण्डव और द्रोपदी गुप्तवेष (अज्ञातवास) में रहे। युधिष्टर तो पण्डित बनकर रहे, भीम रसोईया बनकर रहे, अर्जुन नृत्यांगना बनकर रहे, नकुल-सहदेव घोड़ों को सम्भालने वाले बनकर रहे और द्रोपदी मालिन होकर रही। वे सभी राजा विराट के सन्मान सहित यथाशक्ति सुखशान्ति और सावधानी से गुप्त वेश में रहते हैं।

एक चूलिका नाम की नगरी, वहाँ चूलिका नाम का राजा, उसकी रानी से उसके एक सौ पुत्र, उन एक सौ भाईयों में कीचक उम्र में भी बड़ा और दुराचार में भी बड़ा था। उसको रूपमद, यौवनमद, चातुर्यमद, शूरवीरता का मद और धन का मद था – ऐसे मदों से वह उन्मत्त था। राजा विराट की रानी सुदर्शना कीचक की बहिन होती थी। कीचक बहिन से मिलने के लिये विराटपुर आया। वह द्रोपदी को देखकर कामासक्त हो गया। पापी ने यह नहीं जाना कि यह महासती है।

महामानी होने पर भी द्रोपदी में आसक्त हुआ, कीचक दीनता से अनेक उपाय करके द्रोपदी को लोभ दिखाने लगा, परन्तु वह महासती, जिसको पर-पुरुष तृण समान है ऐसी द्रोपदी ने उस दुष्ट की बलजोरी के कारण उससे झूठी वार्ता करके उसे विश्वास उपजाया और भीम के पास जाकर कीचक की सारी हकीकत कही।

महाधीर भीम रात्रि में द्रोपदी का वेष धारण करके कीचक ने जहाँ संकेत किया था वहाँ एकान्त में गया। महा-कामासक्त वह उसी को द्रोपदी समझकर तुरन्त ही उसके पास आया। जैसे हाथी स्पर्शन इन्द्रिय के वश से होकर गड्डे में गिरने आता है, वैसे ही वह द्रोपदी समझकर भीम के पास आया। भीम ने दोनों हाथों से उसका गला पकड़ा और वहीं जमीन पर पछाड़ दिया। पैरों से मसला, मुस्टिओं का प्रहार किया और जैसे पर्वत

पर वज्र पड़ते हैं उसीप्रकार कीचक पर भीम की मुट्ठी पड़ी। परदार में अनुरक्त, कुशील के अभिलाषी कीचक को भीम ने पाप का फल दिखाकर छोड़ दिया। जो दयावंत उज्ज्वल मन हैं, वे ऐसे पापी को भी नहीं मारते, समस्त जीवों पर दयाभाव रखते हैं। वह कीचक पाप का फल प्रत्यक्ष देखकर विषय से विरक्त हुआ।

उसने एक रतिवर्धन नाम के मुनि के पास जाकर मुनिव्रत ले लिया और भावों की शुद्धता से भावना भाकर शुद्धरत्नत्रय का आराधन किया और वन में ध्यानारूढ... हुआ। एक समय एक यक्ष ने उसे देखा तब यक्ष ने विचार किया कि ये द्रोपदी के प्रति कामासक्त थे सो अब देखूँ कि इनके वैराग्य में कैसी दृढता है ? मुनि की परीक्षा के लिये यक्ष ने अर्द्धरात्रि में द्रोपदी का रूप दिखाया और कामयुक्त उन्मादरूप मीठे शब्द सुनाये, परन्तु वे साधु उसके शब्द सुनकर भी बहरे के समान हो गये, उसका रूप देखकर भी अंध समान हो गये। रूप महामनोहर विलासरूप, परन्तु अंधा कैसे देखे ? महासुन्दर श्रृंगार रस से युक्त शब्द, परन्तु बहरा कैसे सुने ?

कैसे हैं कीचक मुनि ? जिन्होंने इन्द्रिय समूह को वशीभूत किया है, जिनका मन शुद्ध हुआ है। उसी समय कीचक मुनि को केवलज्ञान हुआ। तब यक्षदेव ने उन्हें नमस्कार करके क्षमायाचना की और पूछने लगा कि हे प्रभो... आपका द्रोपदी के ऊपर मोह होने का क्या कारण है ? तब कीचक केवली अपने और द्रोपदी के कितने ही पूर्वभव कहते हैं। हे यक्ष... यह तरंगिणी नाम की नदी, जिसमें वेगवती नाम की नदी का मिलाप हुआ है उस नदी के किनारे महादुष्ट क्षुद्र नाम का एक म्लेच्छ था। वह महापापी, गरीब, जीवों का वैरी और कोई नहीं, मैं ही था, सो एक बार साधु के दर्शन से मेरा मन शान्त हुआ और मैं मरकर उत्तम मनुष्य हुआ। वहाँ मेरा नाम कुमारदेव था और धनदेव (सोमभूति-अर्जुन का जीव) मेरा पिता और सुकुमारी (नागश्री-द्रोपदी का जीव) मेरी माता। उस पापिन ने मुनि

को आहार में विष देकर मारा, वह मुनि हत्या के पाप से नरक में जाकर महादुःख भोगकर तिर्यन्च हुई। इसप्रकार अनेक भव नरक तिर्यन्चादि के किये। मैं कुमारदेव उसका पुत्र म्लेच्छ से मरकर उत्तम कुल को तो पाया, परन्तु यति अथवा श्रावक के व्रतों का पालन नहीं किया, सो अज्ञान से अनेक भवों में भ्रमण किया।

फिर एक सीत नामक तापस, उसकी मृगसंगिनी नाम की तापिसी उसका मैं मधु नाम का पुत्र हुआ। उस तापस के आश्रम में मैं बड़ा हुआ। फिर एक विनयदत्त नाम के मुनि को किसी एक भाग्यवान पुरुष ने आहार दिया उसके पंचाश्चार्यों का अतिशय देखकर मैं मुनि हुआ और वहाँ से स्वर्ग में आया, वहाँ से आकर कीचक हुआ हूँ।

कुमारदेव की पर्याय में सुकुमारी (नागश्री) नाम की मेरी माता ने चिरकाल तक संसार भ्रमण करके दुर्भगा, दुर्गन्धा, अनुमति नामक मनुष्यनी होकर महादुःख को भोगकर आर्यिका होकर निदान सहित तप किया। जिसके प्रभाव से देवयोनि पाकर फिर द्रोपदी हुई। अनेक भव में उसके और हमारे सम्बन्ध हुए। किसी जन्म में भ्राता, कभी बहिन, कभी पुत्री और कभी स्त्री हुई। इसकारण मुझे उसके प्रति मोह हुआ। यह कथा कीचक केवली ने यक्ष से कही।

यहाँ गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक.. इस संसारचक्र के परिभ्रमण में ऐसा ही संयोग-वियोग होता रहता है। माता मरकर बहिन होती है, बेटी होती है और स्त्री होती है और स्त्री मरकर माता होती है, बहिन होती है और बेटी होती है। यह संसारचक्र का चरित्र है – ऐसी संसारचक्र की विचित्रता जानकर भव्यजीव वैराग्य को अंगीकार करके मोक्ष के लिये महातप करने का प्रयत्न करो।

कीचक ने विषय-वासना के तीव्र प्रभाव से मरणतुल्य मार खाई और उससे तीव्र वैराग्यभाव करके मुनि दीक्षा लेकर उग्र आराधना में उपसर्ग

से चलित न होकर केवलज्ञान और मुक्ति की साधना की। जीव अज्ञान भाव से कैसे-कैसे आत्मघातक भाव करता है और सम्यग्ज्ञान के बल से कैसे अपने को संसार से बचाकर मुक्ति प्राप्त करता है – इस तथ्य का बोध इस कथा से प्राप्त होता है। **– हरिवंश पुराण से साभार**

रात्रि भोजन-त्याग का लाभ

ज्ञानचक्षु द्वारा तीन लोक को जानने-देखने वाले भगवान जिनेन्द्र को नमस्कार करके सागरदत्त की कथा लिखते हैं :-

एक समय धनमित्र, धनदत्त आदि सेठ व्यापार के लिये कौशाम्बी से चल कर राजगृही की तरफ रवाना हुए। रास्ते में एक जंगल में उनको चोरों ने लूट लिया।

पुण्यहीन पुरुष को हर कार्य में हानि ही होती है।

धन प्राप्त करके चोरों के परिणाम खराब हो गये। सब विचारने लगे कि धन मुझे ही मिले। इस प्रकार लालच में आकर वे एक-दूसरे के प्राण लेने में तत्पर हो गये। रात्रि में जब सब भोजन करने बैठे तो उसमें से एक व्यक्ति ने दाल में और दूसरे ने सब्जी में विष मिला दिया, जिसके खाने से सभी मृत्यु को प्राप्त हुए; उनमें सागरदत्त नाम का एक वैश्य पुत्र बच गया, जो वास्तव में चोर नहीं था बल्कि रास्ते में इन चोरों के साथ हो गया था, उसके बचने का कारण भी यह था कि उसके रात्रि भोजन के त्याग की प्रतिज्ञा थी। धन के लोभ में आकर सबको एक साथ मरा जानकर सागरदत्त को अत्यन्त वैराग्य हुआ।

रात्रि भोजन त्यागी सागरदत्त संसार की लीलाओं को प्रत्यक्ष दुःख का कारण जानकर तथा जीवन को बिजली की तरह क्षण में नाश होने वाला समझकर समस्त धन वहीं छोड़कर दिगम्बर दीक्षा धारण कर अपने आत्मकल्याण के मार्ग में लग गया।

– आराधना कथाकोष से साभार

परम्पराएँ रखना या छोड़ना ?

भारत देश में राजस्थान प्रान्त के झीलों की नगरी उदयपुर जिले में पहाड़ी की तलहटी में एक छोटा सा जनकपुरी नाम का गाँव बसा हुआ है। उसी गाँव में जब मेरे दादाजी कक्षा आठ में अध्ययन करते थे, बात उसी समय की है – मेरे दादाजी की कक्षा में लगभग २० छात्र पढ़ते थे। उनमें दो छात्र कर्णसिंह व हिम्मतसिंह अपनी कुछ विशेषताओं से पूरे स्कूल में अपना नाम रोशन किये हुए थे। सभी साथी उनके स्वभाव से चिरपरिचित हो गये थे। कोई भी उन्हें न जानता हो – ऐसा नहीं था।

एक दिन भी ऐसा न जाता था कि वे चोरी न करें और सर उन्हें न पीटें। दोनों भाई थे। एक ही कक्षा में एक साथ अध्ययन करते थे। छोटा भाई हिम्मतसिंह बड़े भाई कर्णसिंह की अपेक्षा होशियार था। अत: वे एक कक्षा में साथ हो गये थे। वे प्रतिदिन किसी न किसी छात्र की किसी न किसी वस्तु को उठाकर अपने घर अवश्य ले जाते थे। जब उनकी चोरी की आदत सबको ज्ञात हो गई तब हम सबने बहुत समझाया। पर वे न समझे तब सबने अपने गुरुजी से कहा। गुरुजी ने दोनों को बहुत समझाया व पीटा, परन्तु वे चिकने घड़े हो गये थे सो उन पर कुछ भी असर नहीं पड़ा।

एक दिन गुरुजी ने तंग आकर उनको बहुत लताड़ा और पूछा – क्या तुम गरीब हो ?

उन्होंने कहा – हम गरीब नहीं है।

गुरुजी ने पूछा – फिर तुम ऐसा क्यों करते हो ?

उन्होंने कहा – हमारे पिता चोर हैं सो उन्होंने हमें यही उपदेश दिया है कि अपनी परम्परा कभी नहीं तोड़ना

गुरुजी ने कहा – कल जब विद्यालय में आओ तब अपने पिता को साथ में लेकर आना, अन्यथा आना ही नहीं।

दोनों छात्र शाम को अपने घर पहुँचे। बस्ता रखा। उनका चेहरा उदास सा होने से पिताजी ने पूछा – आज क्या बात है, तुम दोनों उदास क्यों हो ? कहीं झगड़ा करके आये हो क्या ?

दोनों ने कहा – नहीं।

पिताजी ने पूछा – तब फिर क्या बात है ?

कर्णसिंह ने कहा – गुरुजी ने हमको पीटा और कल आपको विद्यालय में बुलाया है।

पिताजी ने कहा – क्यों ?

हिम्मतसिंह ने कहा – हम यह नहीं जानते। बस आपको चलना है, नहीं तो हम विद्यालय नहीं जायेंगे।

पिता स्कूल नहीं जाना चाहते थे, किन्तु बालक आखिर हठी होते हैं, उनकी हठ के आगे सबको झुकना पड़ता है, अत: पिता को कहना पड़ा – अच्छा चलूँगा।

दूसरे दिन पिता के साथ दोनों छात्र देरी से आते हैं। गुरुजी उस समय कक्षा में ही पढ़ा रहे थे। पिताजी व छात्रों ने गुरुजी को प्रणाम किया।

पिताजी ने कहा – मास्टर साहब... मुझे क्यों बुलाया है ?

गुरुजी ने कहा – आपके लड़के प्रतिदिन यहाँ चोरी करते हैं, आप उन्हें घर पर डाटते-फटकारते क्यों नहीं हो।

मदनसिंह बोला – मैं चोरी करता हूँ, मेरा बाप अमरसिंह चोरी करता था, उसका बाप दुर्जनसिंह चोरी करता था, उनका बाप उदयसिंह चोरी करता था । इसप्रकार हमारे खानदान की परम्परा है, उस परम्परा को हमें कायम रखना है, उसे हम नहीं तोड़ सकते हैं।

गुरुजी ने कहा – क्यों नहीं तोड़ सकते हो ?

उसने कहा – हमारे बाप-दादा को किसी पागल कुत्ते ने तो नहीं काटा था, जो चोरी करते थे, बल्कि वे अपनी खानदान की परम्परा की रक्षा करते थे। मेरे पिताजी ने मुझे सिखाया। मैंने अपने बच्चों को सिखाया। यदि मेरे बच्चे चोरी करते हैं तो कोई बुरा काम नहीं करते। वे अपनी खानदान की परम्परा की रक्षा करते हैं। आप उसमें क्यों व्यवधान करते हो ?

तब मदनसिंह के चुप रहने पर गुरुजी ने कहा – ठीक है, पर मैं आपसे पूछता हूँ कि आपके खानदान की एक परम्परा यह थी कि अनपढ़ रहना यानि किसी को नहीं पढ़ाना व पढ़ना। तब आपने अपने पुत्र को क्यों पढ़ाया ? क्या इससे आपकी परम्परा नहीं टूटती है ? यदि इससे आपकी परम्परा नहीं टूटती है तो चोरी करना छोड़ने से भी परम्परा नहीं टूटेगी, क्योंकि चोरी करना भी खराब काम है व अनपढ़ रहना भी खराब काम है। गलत कार्य को छोड़ना ही चाहिये। **गलत कार्य को छोड़कर सत्य कार्य पर चलने वाला ही समझदार व्यक्ति होता है। रूढ़िवादिता पर चलने वाला अंधविश्वासी व पाखंडी होता है।** आपके खानदान का व्यवसाय चोरी का ही रहा है, किन्तु अब तो उसे छोड़कर बच्चों को सही मार्ग पर चलने दो। चोरीवालों की क्या हालत होती है, कम से कम तुम्हें तो यह बताने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि तुम स्वयं ही भुक्तभोगी हो। तब बीच में ही कर्णसिंह बुजुर्गों की भाँति बोला – नहीं गुरुजी..हम अपने खानदान की परम्परा को नहीं तोड़ेंगे।

तब छोटा पुत्र हिम्मतसिंह बोला – गुरुजी...आप सही कहते हैं। मैं अब चोरी कभी नहीं करूँगा, क्योंकि मेरे पिताजी चोरी करते हैं तो वे अधिकतर जेल में रहते हैं, अतः हमें उनका पूरा स्नेह भी नहीं मिल पाता है। वे अपने घर की व्यवस्था को भी सही तरीके से नहीं देख पाते हैं। मम्मी भी खूब परेशान रहती है।

तब कक्षा में सभी छात्रों ने एक साथ हिम्मतसिंह की बात पर ताली बजाकर उसका स्वागत किया। गुरुजी ने कर्णसिंह व उसके पिता को बहुत

समझाया पर वे नहीं माने। मानते भी कैसे ? वे अपनी परम्परा को तोड़ने में अपने धर्म का नाश मानते थे। गुरुजी ने कर्णसिंह को विद्यालय से नाम काटकर उसे बाहर कर दिया।

अब सब बच्चों की परेशानी मिट गई थी। चोरी की शिकायतें बंद हो गयी थी। अध्यापकों की भी परेशानी मिट गयी थी।

मदनसिंह व कर्णसिंह आज भी उस क्षेत्र में अपनी परम्परा को कायम रखे हुए हैं। कई बार जेल की सजा भी काट रहे हैं। समाज में उनका कोई स्थान नहीं रहा है, परन्तु हिम्मतसिंह ने अच्छा अध्ययन किया। उसे पिता की लताड़ भी कई बार मिली, किन्तु उसने भय से रहित होकर निडरता से अपनी पढ़ाई प्रारंभ रखी। उसने बैंक की प्रतियोगिता-परीक्षा दी, उसमें भी काफी लगन से कड़ी मेहनत कर अच्छे अंक प्राप्त किये और साक्षात्कार में भी उत्तीर्ण होकर आज वह बैंक आफ बडौदा में रोकड़िये पद पर कार्यरत है। उसने समाज में भी अपना अतिशीघ्र ही स्थान बना लिया।

देखो...दोनों भाइयों में अन्तर। एक भाई अपनी गलत परम्परा को निभाने से आये दिन जेल जाता है तो एक भाई अपनी गलत परम्परा को जानकर उसे तोड़कर अच्छे पथ पर लगकर सुन्दर कार्य करता हुआ सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा है।

जगत के परम्परावादी लोग उस व्यक्ति को श्रेष्ठ कहते हैं जो अपनी गलत परम्परा को कायम रखता है और जो अपनी गलत परम्परा को तोड़ता है उसे हीन व कुल बिगाड़नेवाला कहते हैं। परन्तु यदि मैं आपसे पूछूँ – कर्णसिंह ने अपनी परम्परा को बनाये रखकर अच्छा किया या हिम्मतसिंह ने अपनी परम्परा को तोड़कर अच्छा किया ? आपके मुख से सहज ही उत्तर आयेगा कि हिम्मतसिंह ने ठीक किया।

यद्यपि परम्परा को तोड़ना उतना ही कठिन है जितना लोहे की छड़ी को हाथों से तोड़ना। तथापि सत् समझ लेने पर गलत परम्परा को तोड़ना उतना ही सरल है जितना एरण्ड की लकड़ी को तोड़ना। आज

हमारे समाज में भी कुछ ऐसी ही गलत परम्पराएँ चल रही है, जिनके बारे में हमें गंभीरता से विचार करना चाहिए।

दशलक्षण पर्व एक महान पर्व है। यह सार्वभौमिक, सार्वकालिक व सार्वजनिक पर्व है। यह पर्व वर्ष में तीन बार आता है, किन्तु सम्पूर्ण भारत भर में दिगम्बर जैन समाज में यह पर्व बड़े हर्षोल्लास के साथ एक बार ही भादवा सुदी पंचमी से चतुर्दशी तक मनाया जाता है। इस पर्व में लम्बे समय से कई सत् व असत् परम्पराएँ चली आ रही हैं। सत् परम्पराएँ तो चलनी ही चाहिए, किन्तु असत् परम्पराओं को रोकना चाहिए; परन्तु जो असत् परम्पराओं को तोड़ता है, रोकता है, उस पर आरोप-प्रत्यारोप लगाकर उसे ऐसा करने से रोक दिया जाता है।

इस महान पर्व में भादवा सुदी दशमी के दिन मंदिर में अग्नि में धूप खेने की परम्परा कई वर्षों से चली आ रही है। लोग आते-जाते चाहे जैसी धूप उस अग्नि में खेकर धर्म मानते हैं। कई जनों को तो धर्म या अधर्म से भी लेना-देना नहीं है। मात्र देखादेखी बिना विचारे खेने का कार्य करते हैं। इन्हें भीड़ अच्छी लगती है। इसमें सभी लोग शामिल होते हैं। चाहे पूजा व प्रवचन में शामिल न हों। इसमें जरूर शामिल होकर धूप को अग्नि में खेकर अपने कर्म को जलाना चाहते हैं। क्या धूप को अग्नि में खेने से भी कर्म जलते हैं ? कभी विचार किया है ? नहीं। करें भी क्यों ? विचार करने का समय भी कहाँ है। **कर्म भले ही नहीं जलें, किन्तु धूप व जीव अवश्य जल जावेंगे।**

अग्नि में धूप खेने से कितने त्रस जीवों का घात होता है यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं किन्तु स्वीकार करने में कतराते हैं। तभी तो जल्दी-जल्दी भगवान को देखें न देखें, अग्नि में धूप डाली नहीं कि रवाना हो लिए। भले ही बाहर आकर घन्टों बातें लड़ाते हुए खड़े रहें। यदि सच कहा जाय तो कोई व्यक्ति वहाँ पर उतने भयंकर धुएँ में घन्टे भर रुक जाये तो उसके प्राण-पखेरु ही उड़ जायेंगे। एक बात यह भी तो है कि हम अहिंसावादी बने

फिरते हैं। कहते भी हैं कि अहिंसा के पुजारी हैं। हमारे जैनधर्म में अहिंसा को परमधर्म कहा गया है। तब फिर धूप जलाकर मन्दिर में हिंसा का कार्य करना कहाँ तक उचित है ? यह तो आम आदमी कह सकता है कि यह उचित नहीं है।

अग्नि स्वयं भी एकेन्द्रिय जीव है, उसकी हिंसा तथा धूप कैसी है उसका भी ठिकाना नहीं सो उसमें जो जीव हैं उनकी हिंसा हुई तथा धूप खेने पर धुएँ से अनेक त्रस जीवों का घात हुआ सो वह हिंसा हुई। इसप्रकार तीनप्रकार से हिंसा की। हिंसा पाप है यह तो सर्वविदित ही है। अग्नि में धूप खेने से कर्म तो जल जायेंगे व धर्म हो जायेगा – ऐसा मानने से मिथ्यात्व का बंध हुआ और मिथ्यात्व की पुष्टि हुई, जिससे संसार ही बढ़ा। **इतना पाप करते हैं हम धूप को अग्नि में खेने से, जरा विचार करें ?**

कुछ लोग कह सकते हैं – जब अग्नि जलाने से पाप होता है तो घर पर भी मत जलाओ। परन्तु उनका यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि घर पर तो कई कार्य करते हो तो वे भी सब मन्दिर में करो। यदि घर पर जो कार्य किये जाते हैं वे मन्दिर में किये जावें तो मन्दिर की पवित्रता समाप्त हो जावेगी। घर पर भोजन आदि पकाने के लिए अग्नि की आवश्यकता भी है। बिना प्रयोजन तो किसी भी स्थान पर अग्नि जलाने का निषेध ही किया है। एक बात यह भी है कि अन्य क्षेत्र में किये पाप की निर्जरा धर्मक्षेत्र में हो सकती है, किन्तु धर्मक्षेत्र में किये पाप की निर्जरा कहीं नहीं हो सकती है उनका उदय आता ही है, वह फल अवश्य देता है; क्योंकि वह पाप वज्रलेप हो जाता है। कहा भी है –

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं धर्मक्षेत्रे विनश्यति।
धर्मक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

इसीप्रकार मन्दिरों में सोने-चाँदी के वर्क का प्रयोग करना भी एक मिथ्या परम्परा को चलाना व पाप करना है। जो आज हम बिना विचारे ही चलाये जा रहे हैं और समझ रहे हैं कि हम धर्म कर रहे हैं। जबकि इसमें

स्पष्ट हिंसा का दोष लगता है। इससे हमें सदैव बचना चाहिए। अब **हमें यह निर्णय स्वयं ही करना है कि कर्णसिंह बनकर संसार (चारगति) रूपी जेल में जाना है या हिम्मतसिंह बनकर अनंत सुखशांतिमय अपनी स्वाधीन स्वाभाविक सिद्ध दशा को प्राप्त करना है।**

आज हमारी समाज में जो ऐसी मिथ्या परम्पराएँ चल रही हैं, वह अवश्य ही भविष्य में अतिशीघ्र ही निरन्तर क्षीणता को प्राप्त होकर समाप्त हो जायेंगी और उन्हें समाप्त होना ही चाहिए। ध्यान रहे, यहाँ मिथ्या परम्पराओं के नष्ट होने की बात है, सम्यक् परम्पराओं की नहीं। कृपया इसमें अपने पक्ष का व्यामोह छोड़कर विचार करें तो अवश्य ही सत्यता हाथ आवेगी। अत: इस विषय पर सभी को एकबार अवश्य गहराई से विचार करना चाहिए।

– डॉ. महावीर जैन

जिनवाणी शिव सोपानी है, जिनवाणी शिव सोपानी.........
प्रथम चरण है सम्यक् दर्शन जो भविजन पहिचानी है ।।जिनवाणी।।
द्वितीय चरण हैं पाँच अणुव्रत पाँच पाप की हानी है ।।जिनवाणी।।
तृतीय चरण है सामायिकव्रत ताकूँ ध्यावें ज्ञानी है ।।जिनवाणी।।
चौथा चरण चढ़े जब भविजन प्रोषधव्रत की ठानी है ।।जिनवाणी।।
पंचम सचित त्याग में लेते प्रासुक भोजन पानी है ।।जिनवाणी।।
छठवें चरण तजें निशिभोजन नवकोटी से ज्ञानी है ।।जिनवाणी।।
चरण सातवें ब्रह्मचर्य व्रत लहें तजें सब रानी है ।।जिनवाणी।।
चरण आठवें होंय वे-खटक तज आरम्भ निशानी है ।।जिनवाणी।।
नवमें आवश्यक वस्त्रादिक लेता भोजन पानी है ।।जिनवाणी।।
दसवें चरण चढ़े जब भविजन अनुमति तजे विरानी है ।।जिनवाणी।।
ग्यारहवें जब चरण चढ़े उद्दिष्ट त्याग तब आनी है ।।जिनवाणी।।
बारहवें जब चरण चढ़े मुनिव्रत पालें सुखदानी है ।।जिनवाणी।।
तेरह त्रेसठ प्रकृति नाशकर होवे केवलज्ञानी है ।।जिनवाणी।।
चरण चौदहवें शुक्लध्यान गह पावे शिव रजधानी है ।।जिनवाणी।।

– प्रेमचन्द जैन "वत्सल"

स्वावलम्बन बढ़ाओ !

अनन्तवीर्य केवली से धर्मश्रवण करने के उपरान्त, रामचन्द्र इस प्रकार विचारने लगे – आत्मा का स्वरूप तो निरावलम्बी है, पूर्ण निरावलम्बी हो जाना ही आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इस जीव को जितना 'पर' का अवलम्बन है, उतनी ही इसकी पराधीनता है और उतना ही इसके पास परिग्रह है। परिग्रह का अर्थ ही है, परावलम्बन। भीतर जितनी कमजोरी हीन होती है अथवा सबलता आती है, उतना ही बाहर का अवलम्बन छूटता चला जाता है। वह आंतरिक सबलता अपने निज स्वभाव को ग्रहण करने से ही होती है।

जीव को पहले यह समझना होगा कि बाहरी अवलम्बन मेरी महानता अथवा बड़प्पन का द्योतक नहीं; अपितु मेरी पराधीनता का ही द्योतक है। वस्तुतः जीव को उस अवस्था को प्राप्त करना है, जहाँ पर कोई भी अवलम्बन न रहे। यह तभी हो सकता है, जब आत्मा अपनी पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त हो जाए। बाहरी परिग्रह तो असल में आत्मा की गरीबी को ही बता रहा है। अगर यह भीतर से भरा होता तो बाहर से भरने की इसे जरूरत ही नहीं होती। इसे 'पर' की जरूरत है – यही तो इसकी गरीबी है। जिसकी सारी जरूरतें पूरी हो गयीं अर्थात् जिसकी कोई जरूरत ही नहीं रही, वही अमीर है, वही वैभवशाली है।

जरूरत कम कर लेना एक बात है; लेकिन जरूरत न रह जाना बिल्कुल दूसरी तरह की बात है। जितना भी व्यावहारिक आचरण का उपदेश दिया गया है, वह इसीलिये दिया गया है कि व्यक्ति 'पर' के अवलम्बन से हटे। परन्तु यह अधूरी बात है, पूरी बात तब होगी जब वह साथ में स्वावलम्बन को प्राप्त कर उसे बढ़ाता जाए। वास्तव में जितना स्वावलम्बन बढ़ेगा, उतना ही परावलम्बन छूटेगा।

अगर किसी ने परस्त्री का त्याग किया है, तो उसने संसार की समस्त

स्त्रियों का अवलम्बन छोड़कर मात्र एक स्त्री का अवलम्बन रखा है। इसका अर्थ है कि उसकी पराधीनता अब मात्र एक स्त्री तक ही सीमित है। जब उसका स्वावलंबन और बढ़ता है, तो एक स्त्री की भी जरूरत नहीं रहती। इसी प्रकार धन-वैभव की बात है। जितना स्वावलंबन बढ़ता जाता है, उतना ही बाह्य अवलम्बन छूटता जाता है। अतः हमें अपनी दृष्टि यह बनानी होगी कि **परावलम्बन जीव की हीनता है, वैभव नहीं।**

जो जीव परिग्रह को पराधीनता समझता है, वह स्वावलंबन बढ़ाता है और परिग्रह से हट जाता है; परन्तु जिसने परिग्रह को वैभव मान रखा है, वह उससे नहीं छूट सकता। वास्तव में दूसरे से तो सब छूटे हुए ही हैं, उन्हें केवल अपने ममत्वभाव ने ही बाँध रखा है।

उधर केवली भगवान से धर्मश्रवण करने के बाद इन्द्रजित् और मेघवाहन ने अपने पूर्वभव पूछे केवलज्ञानी ने इसप्रकार बतलाया –

कौशाम्बी नामक नगरी में दो भाई रहते थे। एक का नाम प्रथम था और दूसरे का नाम पश्चिम था। दोनों बहुत दरिद्र थे। एक दिन की बात है कि विहार करते हुए वहाँ भवदत्त नामक मुनिराज आये। दोनों भाइयों ने उन मुनिराज से धर्मश्रवण करके ग्यारहवीं प्रतिमा के व्रत धारण कर लिये। वे 'क्षुल्लक' श्रावक हो गये। भवदत्त मुनिराज के दर्शन हेतु वहाँ कौशाम्बी नगरी का राजा इन्द्र भी आया हुआ था। महाज्ञानी मुनिराज उसे देखकर समझ गये कि इसका मिथ्यादर्शन दुर्निवार है। अतः वे उपेक्षाभाव से बैठे रहे, उस राजा को उपदेश देने में उन्होंने कोई रुचि नहीं दिखलाई।

तदनन्तर राजा के चले जाने पर उसी नगरी का नन्दी नामक एक जिनभक्त सेठ भी मुनिराज के दर्शन के लिये आया। मुनिराज ने वात्सल्यपूर्वक उपदेश आदि के द्वारा उसे आदृत किया, जिसे देखकर पश्चिम नामक भाई ने यह निदान किया कि मैं धर्म के प्रसाद से इस सेठ का पुत्र बनूँ। उसके बड़े भाई और गुरु दोनों ने उसे बहुत समझाया कि

जिनशासन में निदान करना अति निन्दनीय है; लेकिन वह कुबुद्धि नहीं समझ सका और मरकर नन्दी सेठ की पत्नी इन्दुमुखी के गर्भ में आया। बड़े-बड़े राजाओं ने उसे नाना प्रकार के निमित्तों से महापुरुष समझा और जन्म होते ही अनेक राजाओं ने इसके पिता के पास अनेक उपहार भेजे। उसका नाम रतिवर्धन रखा गया। सभी राजा, यहाँ तक कि कौशाम्बी नगरी का राजा इन्द्र भी उसकी सेवा में तत्पर रहने लगा।

उधर उसका पूर्वभव का बड़ा भाई मरकर स्वर्ग गया। उसने छोटे भाई के जीव को सम्बोधने के लिये क्षुल्लक का रूप धारण किया और रतिवर्धन के पास आया; किन्तु रतिवर्धन धन-वैभव के मद में अंधा हो गया था। अतः उसने क्षुल्लक को घर के भीतर नहीं आने दिया। तब उस देव ने क्षुल्लक का रूप छोड़कर रतिवर्धन का ही रूप धारण कर लिया और असली रतिवर्धन को पागल जैसा बनाकर जंगल में दूर खदेड़ दिया, फिर उसके पास जाकर बोला कि अब कहो, तुम्हारा क्या हाल है? रतिवर्धन उसके चरणों में झुक गया। तब उस देव ने उसे पूर्वभव की बात बतायी कि पहले हम दोनों भाई थे, मैं बड़ा था और तू छोटा था, हम दोनों ने क्षुल्लक के व्रत धारण किये थे। तूने नन्दी सेठ का पुत्र होने का निदान किया था। अतः मरने के बाद तू वही हुआ। तूने धन-वैभव प्राप्त किया और मैं मरकर स्वर्ग पहुँचा हूँ।

देव के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर रतिवर्धन प्रतिबोध को प्राप्त हुआ और उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी। वह मुनि हो गया। मुनिव्रत का पालन करके रतिवर्धन का जीव स्वर्ग में अपने भाई के पास जाकर देव हुआ। इसके बाद वे दोनों भाई स्वर्ग से आकर विजय नामक नगर में उर्व और उर्वस नाम के राजकुमार हुए। वे दोनों राजकुमार जिनधर्म की आराधना करके पुनः स्वर्ग में देव हुए। फिर वहाँ से आकर तुम दोनों भाई इन्द्रजित् एवं मेघवाहन हुए हो। रतिवर्धन की माता इन्दुमुखी ही इस भव में मन्दोदरी हुई है। इसप्रकार अपने पूर्वभव सुनकर वे दोनों भाई संसार की माया से

विरक्त हो गये। उन्होंने जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। कुम्भकर्ण, मारीच, मय आदि अनेक बड़े-बड़े विद्याधर भी उनके साथ संसार से विरक्त हो, विषय-कषायों का त्याग करके मुनि हो गये।

रानी मन्दोदरी पहले पति तथा अब पुत्रों के वियोग से अत्यन्त व्याकुल हुई और शोकवश मूर्छित हो गयी। उसे शशिकान्ता नामक आर्यिका ने उपदेश दिया – हे मन्दोदरी ! इस संसार चक्र में जीवों ने अनन्त भव धारण किये हैं। अब तू विलाप करना छोड़ और निश्चलता धारण कर। यह संसार असार है, केवल एक जिनधर्म ही सार है। तू जिनधर्म की आराधना कर और दुःख से निवृत्त हो जा। आर्यिका माताजी आगे कहा –

दुःख और कष्ट ये दोनों एक बात नहीं हैं। दोनों अलग-अलग हैं, दोनों के कारण भी अलग-अलग हैं, कष्ट बाहरी पदार्थों या स्थितियों के सद्भाव अथवा अभाव में होता है, जबकि दुःख एक आन्तरिक घटना है; इसलिये सारे कष्ट मिट जायें, तब भी दुःख नहीं मिटता। कष्ट और दुःख के तल अलग-अलग हैं। कष्ट अनेक प्रकार का है, जबकि दुःख एक ही प्रकार का है। दुःख असुविधा नहीं है। अतः समूची सुविधाएँ मिलने पर भी इस जीव का दुःख दूर नहीं होता। दुःख बाहर से आने वाली कोई चीज नहीं; अपितु अंतरंग से आने वाली है, जबकि कष्ट बाहर से सम्बन्धित है। दुःख अज्ञान है। अतः यदि अन्तःप्रकाश की उपलब्धि हो, तो दुःख मिट सकता है।

दुःख का सम्बन्ध 'पर' में अपनापना मानने से है। अतः वह तब तक नहीं मिटेगा, जब तक अपने आपको पहचानने का सम्यक् पुरुषार्थ करके 'पर' में अपनापना न मिटा दिया जाये। यदि यह जीव स्वर्ग में चला जाए और इसे सब मनचाही सुविधायें प्राप्त हो जाएँ, तब भी इसका कष्ट तो अवश्य मिट जायेगा; परन्तु दुःख नहीं। अतः हमें पर को अपने सुख का कारण मानना छोड़कर स्वावलम्बन को ही सुख का कारण जानकर उसे अपना कर सदा सुखी होना ही श्रेयष्कर है। **जैनकथा संग्रह भाग-४ से साभार**

श्री जीवन्धरस्वामी का चरित्र

श्री महावीरस्वामी के समय में श्री जम्बूस्वामी से पूर्व हुए
कामदेव पदवी धारक, तद्भव मोक्षगामी

पुण्य-पाप की विचित्रता

ऊँचा-नीचा जो करे, उसको कहते कर्म।
कर्म रहित जो अवस्था, उसको कहते धर्म॥
पुण्य-पाप है कर्म, ऊँचा-नीचा वह करे।
धर्म कहें उसको प्रभू जो उत्तम सुख में धरे॥

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हेमांगद देश की राजपुरी नामक नगरी के राजा सत्यन्धर यद्यपि गूढ़ रहस्यों को जाननेवाले दूरदर्शी एवं विवेकी थे, तथापि होनहार के अनुसार वे अपनी रानी विजया पर इतने अधिक आसक्त थे कि वे सदा उनके ही साथ समय बिताया करते थे। इसी कारण उन्होंने एक दिन मंत्रियों के समझाने पर भी उनकी एक न मानी और राज्य की सम्पूर्ण सत्ता मंत्री काष्ठांगार को सोंप दी। – इसप्रकार राज-काज के कार्यों की उपेक्षा कर वे रानी के मोह में ही मग्न हो गये।

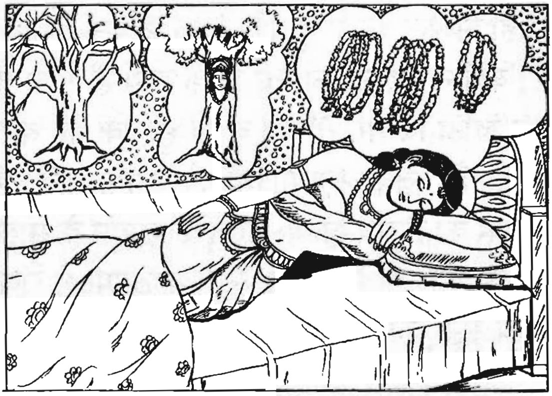

एक दिन रानी विजया ने रात्रि के पिछले प्रहर में तीन स्वप्न देखे– (१) एक बड़ा अशोक वृक्ष देखते-देखते ही नष्ट हो गया। (२) एक नवीन एवं सुन्दर अशोक वृक्ष देखने में आया। (३) आकर्षक आठ पुष्पमालाएँ दिखाई दीं।

प्रातः रानी ने अपने नित्य कर्त्तव्यों से निबटकर राजा से स्वप्नों का फल पूछा। राजा ने प्रथम स्वप्न को छोड़कर शेष दो स्वप्नों का फल इस प्रकार बताया – (१) तुम्हें शीघ्र ही पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी एवं (२) उसकी आठ सुन्दर और सम्पन्न घराने की कन्याओं से शादी होगी। राजा द्वारा प्रथम स्वप्न का फल न बताये जाने पर रानी ने अनुमान लगाया कि प्रथम स्वप्न के फल में अवश्य ही राजा का अनिष्ट गर्भित है; अतः वह अत्यन्त दुःखी हुई।

कुछ काल पश्चात् रानी को गर्भवती जानकर राजा ने अपना मरण निकट है – यह जान लिया; अतः उन्होंने गर्भस्थ शिशु एवं रानी की रक्षार्थ एक केकीयंत्र (एक प्रकार का वायुयान) बनवाया और रानी को केकीयंत्र में बिठाकर आकाश में घुमाने का अभ्यास प्रारम्भ किया।

इसी बीच काष्ठांगार को विचार आया कि "राज्य के सभी कार्य तो मैं ही निष्पन्न करता हूँ, फिर राजा सत्यन्धर कहलाए – यह कहाँ की रीति है; क्यों न मैं राजा का वध करके स्वयं ही राजा बन जाऊँ।" उसने अपना यह खोटा विचार " यह कहते हुए कि यह बात मुझे एक देव बार-बार कहता है" जब अन्य मंत्रियों को बताया, तब लगभग सभी मंत्रियों ने इस विचार का विरोध किया; परन्तु काष्ठांगार के साले मंथन ने उसके इस खोटे विचार का समर्थन किया और काष्ठांगार ने राजा सत्यन्धर को मारने के लिये सेना को आदेश दे दिया।

सेना द्वारा अपने पर आक्रमण के समाचार सुनकर राजा ने सर्वप्रथम रानी एवं गर्भस्थ पुत्र के रक्षार्थ रानी को केकीयन्त्र में बिठाकर यंत्र को आकाश मार्ग से अन्यत्र भेज दिया। भेजने के पूर्व राजा ने रानी विजया को कुछ आवश्यक उद्बोधन दिया, जो इसप्रकार है –

"हे रानी ! तुम शोक मत करो। जिसका पुण्य क्षीण हो जाता है, उसको उदय में आये पाप कर्म के फल में प्राप्त दुःख को तो भोगना ही पड़ता है। अपना भी अब पुण्य क्षीण हो गया है और पाप का

उदय आ गया है। अतः हम पर दुःख और आपत्तियों का आना तो अनिवार्य ही है।

जिसप्रकार क्षणभंगुर जल का बुलबुला अधिक देर तक नहीं टिक सकता, उसीतरह यौवन, शरीर, धन-दौलत, राज-शासन आदि अनुकूल संयोग भी क्षणभंगुर ही हैं। इस कारण इन अनुकूल संयोगों का वियोग होना अप्रत्यासित नहीं है। अतः तुम शोक मत करो। यद्यपि यह सब मेरे मोहासक्त होने का ही दुष्परिणाम है; पर.... ..... जो होना था वही तो हुआ है। तुम्हारे स्वप्नों ने पहले ही हमें इन सब घटनाओं से अवगत करा दिया था। स्वप्नों के फल यही तो दर्शाते हैं कि अब अपना पुण्य क्षीण हो गया है; अतः वस्तु स्वरूप का विचार कर धैर्य धारण करो।'' – इसतरह राजा ने रानी को समझाया।

रानी को केकीयन्त्र में बिठाकर यंत्र को आकाश मार्ग से भेजने के बाद राजा को स्वयं अपनी ही सेना से युद्ध करना पडा। कुछ समय पश्चात् युद्ध की व्यर्थता को जानकर राजा विरक्त हो गये और सल्लेखनापूर्वक शरीर का त्याग कर स्वर्ग में देव हुए।

केकीयन्त्र ने गर्भवती रानी विजया को राजपुरी की श्मशान भूमि में पहुँचा दिया। वहीं रानी ने जीवन्धरकुमार को जन्म दिया। उसी समय चम्पकमाला नामक देवी ने धाय माँ के वेश में आकर रानी से कहा कि आप अपने पुत्र के लालन-पालन की चिन्ता छोड़ दो। उसका पालन-पोषण तो राजकुमारोचित्त ही होगा।

रानी ने पुत्र को राज मुद्रांकित अंगूठी पहनाई और स्वयं वहीं झाड़ियों में छिप गई। तभी गंधोत्कट सेठ अपने नवजात मृत पुत्र के अन्तिम संस्कार हेतु वहाँ आये और अवधिज्ञानी मुनि के वचनानुसार नवजात जीवित पुत्र को खोजने लगे। सेठ को राजपुत्र जीवन्धर मिल गये, वह राजपुत्र जीवन्धर को लेकर घर पहुँचा और अपनी पत्नी सुनन्दा से

बोला कि "अरे भाग्यवान् ! यह अपना पुत्र तो जीवित है, मरा नहीं है, अतः अब इसका भलीप्रकार लालन-पालन करो।"

सेठानी सुनन्दा भी यह जानकर खुश हुई कि अहा ! "मेरा पुत्र जीवित है।"

पुण्य-पाप के उदय में भी कैसी-कैसी चित्र-विचित्र परिस्थितियाँ बनती हैं ? कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। एक ओर ऐसा पापोदय, जिसके उदय में भयंकर एवं दुःखद प्रतिकूल परिस्थितियों की भरमार और दूसरी ओर पुण्योदय भी ऐसा कि मानवों की तो बात ही क्या ? देवी-देवता भी सहायक हो जाते हैं, सेवा में उपस्थित हो जाते हैं।

यद्यपि पापोदय के कारण जीवन्धरकुमार का जन्म श्मशान (मरघट) में हुआ, जन्म के पूर्व ही पिता सत्यन्धर स्वर्गवासी हो गये, माँ विजया भी असहाय हो गई; परन्तु साथ ही पुण्योदय भी ऐसा कि सहयोग और सुरक्षा हेतु स्वर्ग से देवी भी दौड़ी-दौड़ी आ गई।

पुण्यवान जीव कहीं भी क्यों न हो, उसे वहीं अनुकूल संयोग स्वतः सहज ही मिल जाते हैं। विजयारानी के प्रसव होते ही तत्काल चम्पकमाला नामक देवी धाय के भेष में वहाँ श्मशान में जा पहुँची। उसने अपने अवधिज्ञान से यह जाना कि –

इस बालक का लालन-पालन तो राजकुमार की भाँति शाही ठाट-बाट से होने वाला है। अतः देवी ने विजयारानी को

आश्वस्त किया कि आप इस बालक के पालन-पोषण की चिन्ता न करें। इस बालक का पालन-पोषण बड़े ही प्यार से किसी कुलीन खानदान में रहकर धर्मप्रेमी श्रीमन्त दम्पत्ति द्वारा योग्यरीति से होगा। देवी द्वारा की गई भविष्यवाणी के अनुसार ही जीवन्धरकुमार सेठ गन्धोत्कट और उसकी सेठानी सुनन्दा के घर सुखपूर्वक रहते हुए शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति वृद्धिंगत होने लगे। उधर विजयारानी भी वन में तपस्वियों के आश्रम में जाकर धर्म आराधना करते हुए अपने मानव जीवन को सफल करने लगीं। कुछ काल पश्चात सुनन्दा ने नंदाढ्य नाम के पुत्र को जन्म दिया। नंदाढ्य के साथ ही जीवन्धर का लालन-पालन हुआ और आर्यनन्दी नामक गुरु के पास जीवन्धर का विद्याभ्यास हुआ, जिससे वह थोड़े ही समय में उद्भट विद्वान बन गया।

एक दिन आर्यनन्दी ने (जो इसी भव में इससे पहले मुनि थे और भस्मक व्याधि के कारण उन्हें अपने गुरु की आज्ञानुसार मुनि अवस्था का त्याग करना पड़ा था।) जीवन्धर को एक कथानक के बहाने अपना ही पूर्व वृत्तान्त सुनाया। जो इसप्रकार है –

''विद्याधरों के अधिपति एक लोकपाल नाम के न्यायप्रिय प्रजापालक राजा राज्य करते थे, वे स्वयं तो धर्मात्मा थे ही, प्रजा को भी समय-समय पर धर्मोपदेश दिया करते थे। एक बार राजा लोकपाल ने धनादि वैभव से उन्मत्त हुए अपने प्रजाजनों को उनके वैभव की मेघों की क्षणभंगुरता से तुलना करके उनके वैभव एवं ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का ज्ञान कराया तथा स्वयं भी क्षणभंगुर मेघमाला देख कर इस क्षणिक संसार से विरक्त होकर मुनि हो गये। अकस्मात उन्हें महाभयंकर भस्मक रोग हो गया। अतएव अपना मुनिलिंग छेद कर रोग शमन के लिए भोजनार्थ यत्र-तत्र भटकने लगे। एक दिन वे गन्धोत्कट सेठ के यहाँ भोजन की इच्छा से उनकी भोजन शाला में गये, वहाँ तुम भी भोजन कर रहे थे। तुमने उनकी भोजनेच्छा को समझ लिया। तब तुमने रसोइया को उन्हें भोजन कराने का

निर्देश दिया। भोजनशाला में जितनी खाद्य सामग्री थी उसको खा लेने पर उसकी भूख शान्त नहीं हुई। तब तुमने अपने भोजन में से कुछ भोजन उन्हें दे दिया, उसमें से एक ग्रास खाते ही उसका भस्मक रोग तुरन्त ही शान्त हो गया। तब उसने इस उपकार के बदले तुम्हे उद्भट विद्वान बनाने का निर्णय लिया।''

इस कथानक को सुनकर जीवन्धर कुमार समझ गये कि यह वृत्तान्त मेरे गुरुवर्य श्री आर्यनन्दी जी का ही है। इसके पश्चात् आर्यनन्दी ने जीवन्धरकुमार को उनके पिता राजा सत्यन्धर, सेठ गन्धोत्कट और दुष्ट काष्ठांगार का वास्तविक परिचय दिया। वस्तुस्थिति जानकर जीवन्धरकुमार काष्ठांगार की दुष्टता पर अत्यन्त क्रोधित हुए और काष्ठांगार को मारने के लिये उद्यत हो गये।

पर गुरु आर्यनन्दी ने एक वर्ष तक काष्ठांगार को न मारनेरूप गुरुदक्षिणा जीवन्धरकुमार से ली। तथा अपने ऊपर किये गये उपकार का कृतज्ञता पूर्वक बदला चुकाकर अर्थात् जीवन्धर को उद्भट विद्वान बनाकर आर्यनन्दी ने पुनः मुनिदीक्षा धारण की और उसी भव से मोक्ष पधारे।

राजपुरी नगरी में ही एक नन्दगोप नाम का ग्वाला रहता था। एक दिन कुछ भीलों ने उसकी गायें रोक लीं। तब दुःखी होकर उसने राजा काष्ठांगार से गायें छुड़ाने के लिये पुकार लगाई। राजा ने अपनी सेना भीलों से गायें वापिस लाने के लिये भेजी, पर जब सेना भी गायें वापिस लाने में समर्थ नहीं हुई तब नन्दगोप ने नगर में घोषणा कराई कि ''जो व्यक्ति मेरी गायें छुड़ाकर लायेगा उसे सात सोने की पुतलियाँ पुरस्कार रूप में दूँगा और

साथ ही अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दूँगा।" जीवन्धर ने घोषणा करनेवालों को रोका और स्वयं जंगल में जाकर भीलों से गायें छुड़ा लाये। तदनन्तर नन्दगोप की कन्या का विवाह अपने मित्र पद्मास्य के साथ सम्पन्न करा दिया।

राजपुरी नगरी में ही श्रीदत्त नाम के एक वैश्य रहते थे। वे एकबार धन कमाने के उद्देश्य से नौका द्वारा अन्य द्वीप में गये हुए थे। धनार्जन के पश्चात् जब वे वापिस लौट रहे थे, तब भारी वर्षा के कारण जब नौका डूबने लगी, तब श्रीदत्त नौका पर बैठे हुए शोकमग्न व्यक्तियों को समझाते हैं कि यदि आप लोग विपत्ति से डरते हो तो विपत्ति के कारणभूत शोक का परित्याग करो।

"हे विज्ञ पुरुषो ! शोक करने से विपत्ति नष्ट नहीं होती, बल्कि यह विपत्तियों का ही बुलावा है, विपत्ति से बचने का उपाय निर्भयता है और वह निर्भयता तत्त्वज्ञानियों के ही होती है, अतः तुमको तत्त्वज्ञान प्राप्त करके निर्भय होना चाहिए। तत्त्वज्ञान से ही मनुष्यों को इस लोक व परलोक में सुखों की प्राप्ति होती है।"

श्रीदत्त आगे कहते हैं कि – "तत्त्वज्ञान अर्थात् वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ एवं स्व-पर भेदविज्ञान और आत्मानुभूति होने पर दुःखोत्पत्ति की हेतुभूत बाह्य वस्तु भी वैराग्योत्पत्ति का कारण बन कर सुखदायक हो जाती है।" श्रीदत्त आत्मसम्बोधन करते हुए अपने आप से कहता है कि – "हे आत्मन् ! जिसप्रकार क्रोध लौकिक और पारलौकिक दोनों सुखों पर पानी फेर देता है, ठीक उसीप्रकार तृष्णा रूपी अग्नि उभय लोक को नष्ट करने वाली है।" इसप्रकार श्रीदत्त तो सम्बोधन करते रहे और नौका अतिवृष्टि के कारण समुद्र में डूब गई ; परन्तु श्रीदत्त स्वयं एक लकड़ी के सहारे किसी देश के किनारे पहुँच गये।

वहाँ एक अपरिचित व्यक्ति मिला, वह सेठ श्रीदत्त को किसी बहाने विजयार्ध पर्वत पर ले गया और वहाँ पहुँच कर कहा कि "वास्तव में

तुम्हारी नौका डूबी नहीं है, वह तो सुरक्षित है। मैं गान्धार देश की नित्यालोक नगरी के राजा गरुड़वेग का सेवक हूँ, उनके साथ आपकी परम्परागत मित्रता है। उन्हें अपनी पुत्री के विवाह के लिये आपके सहयोग की अपेक्षा है। अत: उन्होंने मुझे आपको अपने पास लाने का निर्देश दिया था। समय का अभाव एवं अन्य उपाय न होने से मैंने आपके मन में नौका नष्ट होने का भ्रम उत्पन्न किया और आपको यहाँ ले आया हूँ। अब आप प्रसन्न होकर अपने मित्र गरुड़वेग से मिलिये और उनकी समस्या के समाधान में सहयोग दीजिये।"

श्रीदत्त सेठ और राजा गरुड़वेग का बहुत समय बाद मिलन हुआ, राजा गरुड़वेग ने श्रीदत्त को अपनी कन्या गन्धर्वदत्ता सौंपते हुए कहा – "राजपुरी नगरी में वीणा वादन में जो इसे जीतेगा वही इसका पति होगा।"

श्रीदत्त गन्धर्वदत्ता को लेकर घर आये और अपनी पत्नी को सब समाचार सुनाया। श्रीदत्त ने राजाज्ञा लेकर स्वयंवर मण्डप की रचना की और राजपुरी नगरी में घोषणा कराई कि "जो मेरी कन्या गन्धर्वदत्ता को वीणा वादन में हरायेगा, वही उसका पति होगा।"

जब गन्धर्वदत्ता के साथ वीणा-वादन में सभी प्रत्याशी हार गये, तब जीवन्धरकुमार ने अपनी घोषवती वीणा बजाकर गन्धर्वदत्ता पर विजय प्राप्त की, परिणाम स्वरूप उनका विवाह गन्धर्वदत्ता से सम्पन्न हुआ। इस घटना से काष्ठांगार को ईर्षा उत्पन्न हुई, उसने उपस्थित सब राजाओं को जीवन्धरकुमार के विरुद्ध भड़काया और उन्हें जीवन्धरकुमार से युद्ध करने की प्रेरणा दी; पर सभी राजा युद्ध में जीवन्धरकुमार से पराजित हुए।

वसन्त ऋतु में एक दिन जीवन्धर जलक्रीड़ा देखने नदी किनारे गये हुए थे। वहाँ एक कुत्ते ने यज्ञ सामग्री को जूठा कर दिया था, जिसके कारण दुष्ट लोगों ने उस कुत्ते को मार-मारकर मरणासन्न कर दिया था। उस कुत्ते को जीवन्धरकुमार ने णमोकार महामंत्र सुनाया; जिससे वह कुत्ते का जीव मर कर यक्षेन्द्र हो गया। कृतज्ञतावश यक्षेन्द्र जीवन्धरकुमार के पास आया

और उनसे बोला कि "मैं आपका सेवक हूँ, कृतज्ञ हूँ। आपत्ति के समय आप मुझे मात्र स्मरण कीजिये, मैं आपकी सेवा के लिये उपस्थित रहूँगा।" इतना कहकर यक्षेन्द्र चला गया।

इधर जलक्रीड़ा के लिये दो सखियाँ सुरमंजरी और गुणमाला भी आयी हुई थीं, उनके पास अपना-अपना एक विशेष प्रकार का चूर्ण था। जिसकी श्रेष्ठता पर उन दोनों में आपस में विवाद हो गया। विवाद समाप्त करने हेतु यह तय हुआ कि जिसका चूर्ण अनुत्कृष्ट होगा, वह नदी में स्नान किये बिना ही घर लौट जायेगी। चूर्ण का अनेक परीक्षकों ने परीक्षण किया पर कोई सही निर्णय पर नहीं पहुँच सका। अन्त में जीवन्धरकुमार ने प्रत्यक्ष परीक्षण कर गुणमाला के चन्द्रोदय नामक चूर्ण को सर्वोत्तम सिद्ध कर दिया। निर्णय जानकर सुरमंजरी अत्यन्त दु:खी हुई। गुणमाला के अनुनय-विनय करने पर भी स्नान किये बिना ही घर वापिस चली गई।

गुणमाला नदी में स्नान करने के पश्चात् जब घर लौट रही थी। तब वह मार्ग में एक मदोन्मत्त हाथी के घेरे में आ गयी। यह देखकर जीवन्धरकुमार ने अपने कुण्डल से तडित कर हाथी को वश में कर लिया और गुणमाला को संकट से मुक्त किया। सहज ही गुणमाला और जीवन्धरकुमार में परस्पर स्नेह हो गया। अतः उनके माता-पिता ने उन दोनों का उत्साह पूर्वक विवाह सम्पन्न करा दिया।

कुण्डल द्वारा हाथी को वश में करने के कारण काष्ठांगार जीवन्धर से बहुत अप्रसन्न/क्रोधित था; क्योंकि वह मदोन्मत्त हाथी उनका था और

अपमानित हाथी ने खाना-पीना छोड़ दिया था। काष्ठांगार ने जीवन्धरकुमार को बन्दी बनाने के लिए गन्धोत्कट के घर पर सेना भेजी। जीवन्धरकुमार ने सेना से युद्ध करना चाहा; किन्तु सेठ गन्धोत्कट ने जीवन्धरकुमार को युद्ध करने से रोक दिया और उन्होंने स्वयं जीवन्धरकुमार के हाथ बाँधकर काष्ठांगार के पास भेज दिया। जीवन्धरकुमार के हाथ बँधे हुए देखकर भी क्रोधी काष्ठांगार ने जीवन्धरकुमार को मारने के लिये सेना को आदेशित किया। जीवन्धरकुमार ने यक्षेन्द्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही यक्षेन्द्र वहाँ उपस्थित हुआ और जीवन्धरकुमार को अपने साथ चन्द्रोदय पर्वत पर ले गया और वहाँ पर उनका विशेष आदर सत्कार किया। उन्हें निम्न तीन मंत्र दिये प्रथम मंत्र में – **इच्छानुकूल वेष बदलने की शक्ति थी**। दूसरे मंत्र में – **मनमोहक गाना गाने की शक्ति थी** तथा तीसरे मंत्र में – **हालाहल विष को दूर करने की शक्ति थी**। और कहा कि –"आप एक वर्ष में अपना राज्य प्राप्त करोगे और राज्य सुख भोगकर इसी भव से मोक्ष प्राप्त करोगे।"

चन्द्रोदय पर्वत से जीवन्धरकुमार तीर्थ वन्दना को निकले, मार्ग में क्या देखते हैं कि एक जंगल में भयंकर दावाग्नि लगी हुई है, उसमें हाथियों के समूह को जलते हुए देखकर उन्हें उनकी रक्षा का भाव उत्पन्न हुआ। पुण्यपुरुष जीवन्धरकुमार की भावनानुसार तथा हाथियों के पुण्योदयानुसार उसी समय मूसलाधार वर्षा हुई, जिससे हाथियों की रक्षा हो गई। सत्य ही कहा है कि – "**पुण्यवान की इच्छा सफल ही होती है।**"

तीर्थ वन्दना करते हुए जीवन्धरकुमार चन्द्राभा नगरी पहुँचे। वहाँ के राजा धनमित्र की पुत्री पद्मा सर्पदंश से मरणासन्न अवस्था में थी। जीवन्धर ने 'विषहान मंत्र' से राजकुमारी पद्मा को सर्पविष से मुक्त किया। राजा धनमित्र ने प्रसन्न होकर जीवन्धरकुमार को आधा राज्य दिया एवं राजकुमारी पद्मा का उनसे विवाह कर दिया।

इसप्रकार जीवन्धरकुमार ने यक्षेन्द्र से प्राप्त मंत्र शक्तियों का सदुपयोग

करके परोपकार का कार्य ही किया। हमें भी ऐसा ही करना चाहिए, न तो उससे गर्व करना चाहिए और ना ही उसका दुरुपयोग करना चाहिए।

चन्द्राभा नगरी से तीर्थवन्दना करते हुए जीवन्धरकुमार एक तापसी लोगों के आश्रम में पहुँचे। वहाँ मिथ्यातप करते हुए तपस्वियों को देखकर जीवन्धर को करुणा उत्पन्न हुई। उन्होंने उन तपस्वियों को वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान कराया एवं उन्हें जिनधर्म में प्रवृत्त किया।

आगे तीर्थ वन्दना करते हुए जीवन्धरकुमार दक्षिण देश के एक सहस्रकूट जिनमन्दिर में पहुँचे। उस मन्दिर के किवाड़ अनेकों वर्षों से बन्द थे। जीवन्धरकुमार ने मात्र भगवान की स्तुति प्रारम्भ की और मन्दिर के द्वार स्वयं ही खुल गये।

मन्दिर के सामने बैठा हुआ पहरेदार जीवन्धरकुमार के पास आया और बोला – "हे भाग्यवान! इस क्षेमपुरी नगरी में सेठ सुभद्र रहते हैं, मैं उनका गुणभद्र नाम का नौकर हूँ। सेठ सुभद्र के क्षेमश्री नाम की एक कन्या है। "ज्योतिषियों ने उसके जन्म के समय ही बताया था कि जिन भाग्यवान पुरुष के आने पर इस मन्दिर के किवाड़ स्वयं खुलेंगे, वही क्षेमश्री के पति होंगे।" अतः आप कृपया यहीं रुकिए, मैं शीघ्र ही सेठजी को यह शुभ समाचार देकर आता हूँ।"

समाचार मिलते ही सेठ सुभद्र मन्दिर में आकर जीवन्धरकुमार से मिलते हैं, सेठजी को मात्र उन्हें देखते ही उनकी विशेषताएँ ज्ञान में आ जाती हैं। वे जीवन्धरकुमार के साथ अपनी पुत्री क्षेमश्री का विधि पूर्वक विवाह सम्पन्न करा देते हैं।

जीवन्धरकुमार को क्षेमपुरी से तीर्थ वन्दना हेतु आगे जाते समय मार्ग में एक कृषक मिला, उन्होंने उसे धर्म का ज्ञान कराया और उसे व्रती-श्रावक बनाया तथा उसे पात्र जानकर अपनी शादी में मिले हुए सभी आभूषणों को दान स्वरूप देकर आगे बढ़ गये।

यात्रा की थकान मिटाने के लिये वे वन में एकान्त स्थान पर विश्राम कर रहे थे। इतने में ही अनंगतिलका नाम की एक विद्याधरी युवती सामने आई और वह उन्हें देखते ही कामासक्त हो गई। उसने जीवन्धर को लुभाने के लिए स्त्रीजन्य मायाचारी के बहुत प्रयास किये; किन्तु जीवन्धर अडिग रहे। इतने में ही उस युवती को अपने पति की आवाज सुनाई पड़ी, जो उसके वियोग में पागल जैसा आर्तनाद करता हुआ उसी ओर आ रहा था। उसकी आवाज सुनते ही वह युवती वहाँ से चली गई। युवक को दुःखी देख जीवन्धरकुमार ने उसे बहुत समझाने का प्रयास किया, तथापि वह उसके वियोग में विह्वल ही रहा।

तदनन्तर जीवन्धर यात्रा करते हुए हेमाभा नगरी में पहुँचे और वहाँ के राजा दृढ़मित्र के अनुरोध से राजकुमारों को धनुर्विद्या की कला सिखायी। राजा ने प्रसन्न होकर अपनी कन्या कनकमाला का विवाह जीवन्धरकुमार के साथ करा दिया।

कनकमाला से विवाह करने के पश्चात् जीवन्धर अनासक्त भाव से हेमाभा नगरी में निवास कर रहे थे कि उन्हें एक दिन उनके भाई नंदाढ्य के अकस्मात् आने का समाचार मिला। वे शीघ्र ही भाई नंदाढ्य से वहाँ मिलने गये और नंदाढ्य को पाकर प्रसन्नतापूर्वक उसके गले मिले। कुशलक्षेम पूछने के बाद उन्होंने नंदाढ्य से अकस्मात आने का कारण पूछा।

उत्तर में नंदाढ्य ने बताया कि – 'काष्ठांगार ने आपको मार डाला है।' यह ज्ञात होते ही मैं भाभी गन्दर्भदत्ता के पास गया। वहाँ भाभी को प्रसन्नचित्त देख मुझे इस बात का आश्चर्य हुआ कि आपके मृत्यु का समाचार जानकर भी भाभी कैसे प्रसन्न हैं ? आखिर क्यों ? पूछने पर पता चला कि उन्होंने अपनी विद्या के बल से यह सब पहले ही ज्ञात कर लिया था कि आप यक्षेन्द्र द्वारा सुरक्षित हैं और सुख-शान्ति से रह रहे हैं। फिर मेरी आपसे मिलने की इच्छा जानकर उन्होंने ही यहाँ मुझे विद्याबल से आपके पास भेज दिया है। इसतरह यहाँ उनकी छोटे भाई से भेंट भी हुई।

एक दिन जीवन्धरकुमार चोरों से गायों को छुड़ाने जंगल में गये, वहाँ अपने मित्र पद्मास्य आदि से भेंट हुई। प्रमुख मित्र पद्मास्य ने कहा "हम जब आपसे मिलने आ रहे थे तब मार्ग में ही एक आश्रम में विजयामाताजी के दर्शन हुए। माताजी ने जब हमारा परिचय पूछा तब हमने आपके मित्र होने की बात कही। आपको काष्ठांगार ने बन्दी बनाया था, यह सुनते ही वह मूर्छित हो गईं। मूर्छा दूर होने पर हमने बताया कि उसी समय आपकी यक्षेन्द्र ने रक्षा की थी और आप स्वस्थ और सुखपूर्वक हैं।"

अपनी जन्मदात्री माता जीवित हैं, यह जानकर जीवन्धर को उनसे मिलने की अतिशय जिज्ञासा एवं चिन्ता हुई। वे शीघ्र ही आश्रम में पहुँचकर माताजी से मिले। उन्होंने काष्ठांगार से अपना राज्य प्राप्त करने सम्बन्धी उनसे सलाह की तथा माताजी को आस्वासन दिया कि "मैं अब अल्पकाल में स्वयं राजा बनूँगा, आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें।" तदनन्तर जीवन्धर ने माताजी को अपने मामा गोविन्दराज के यहाँ पहुँचा दिया और स्वयं ने राजपुरी नगरी की ओर प्रस्थान किया।

एक दिन श्री जीवन्धरकुमार राजपुरी नगरी में भ्रमण करने गये, तब उनके पास एक गेंद आकर गिरी। यह जानने के लिए कि गेंद कहाँ से आई है उन्होंने अपनी दृष्टि ऊपर उठाई तो एक सुन्दर युवती दिखाई दी। वे उस युवती के रूप-सौन्दर्य पर मोहित हो गये। इतने में ही उस कन्या के पिता सागरदत्त ने आकर जीवन्धर से कहा कि मुझे एक निमित्त ज्ञानी ने बताया था – "जिस मनुष्य के आगमन से जिस दिन बहुत समय से रखे हुए तुम्हारे रत्न बिक जायेंगे, वही मनुष्य मेरी कन्या का पति होगा।" आपके आगमन से मेरे सभी रत्न बिक गये हैं। अत: आप मेरी उस कन्या को स्वीकार करो। जीवन्धर की स्वीकृति जानकर सागरदत्त ने अपनी कन्या का विवाह जीवन्धरकुमार से करा दिया।

एक दिन बुद्धिषेण विदूषक ने जीवन्धर से कहा – "पुरुषों की छाया भी न सहने वाली मानिनी सुरमंजरी के साथ आप जब विवाह करेंगे, तब

हम आपको पुरुषार्थी मानेंगे।" जीवन्धर ने सुरमंजरी से विवाह करने की योजना बनाई। यक्षेन्द्र के द्वारा "इच्छानुसार भेष बनाने" के प्रदत्त मंत्र से एक अत्यन्त वृद्ध पुरुष का भेष बनाकर सुरमंजरी के महल में प्रवेश कर गये। वहाँ उन्होंने मंत्र सिद्ध सर्वोत्तम गीत गाया; जिससे सुरमंजरी बहुत प्रभावित हुई। वृद्ध को विशेष ज्ञानवान जानकर उसने अपने इच्छित वर प्राप्ति का उपाय पूछा। वृद्ध ने कहा "कामदेव के मन्दिर में जाकर उसकी उपासना करने से तुम्हें इच्छित वर की प्राप्ति होगी।"

सुरमंजरी उस वृद्ध पुरुष के साथ कामदेव के मन्दिर में जाने को तैयार हो गई। जीवन्धरकुमार की योजनानुसार उस कामदेव के मन्दिर में बुद्धिषेण विदूषक छिपकर बैठा था। सुरमंजरी ने पूजोपरान्त कामदेव से पूछा "मुझे इच्छित वर कब और कैसे मिलेगा।" सुरमंजरी की बात सुनकर छिपा हुआ बुद्धिषेण बोला "हे सुन्दरी ! इच्छित वर आपको प्राप्त हो चुका है, वह आपके साथ आपके पास ही है।" सुरमंजरी ने वृद्ध की ओर दृष्टि फेरी तो जीवन्धर को सामने खड़ा देखकर वह आश्चर्य में पड़ गई और लज्जित हो गई। तदनन्तर सुरमंजरी के पिता कुवेरदत्त जीवन्धर से उसका विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न करा देते हैं।

सुरमंजरी से विवाह करने के पश्चात् जीवन्धर अपने धर्म माता-पिता सुनन्दा एवं गन्धोत्कट के साथ सुखपूर्वक रहे। फिर अपने मामा गोविन्दराज के पास गये। गोविन्दराज अनेक दिनों से अपने भानजे जीवन्धर को राजा बनाने की योजनाओं पर विचार कर रहे थे। जीवन्धर के अपने घर पहुँचने

पर गोविन्दराज के विचारों को और गति प्राप्त हुई। इसी समय दुष्ट काष्ठांगार का पत्र राजा गोविन्दराज के पास पहुँचा। उसमें लिखा था कि "महाराजा सत्यन्धर का मरण मदोन्मत्त हाथी के कारण हुआ था; तथापि मेरे पापोदय के कारण उनके मरण का कारण प्रजा मुझे मान रही है। अत: आप मुझसे आकर मिलोगे तो मैं निशल्य हो जाऊँगा।"

पत्र पढ़कर दुष्ट काष्ठांगार के खोटे अभिप्राय का पता गोविन्दराज को चल गया। गोविन्दराज ने भी अपनी कूटनीतिज्ञ चतुराई के साथ "काष्ठांगार के साथ हमारी मित्रता हो गई है"; ऐसा ढ़िढोरा पिटवा दिया और अपनी सेना के साथ राजपुरी नगरी के पास जाकर एक उद्यान में ठहर गये।

वहीं गोविन्दराज ने अपनी कन्या लक्ष्मणा के लिये स्वयंवर मण्डप की रचना की और घोषणा करा दी कि "जो चन्द्रकयंत्र को भेदन करेगा, उसी के साथ लक्ष्मणा का विवाह सम्पन्न होगा।"

घोषणा सुनकर अनेक धनुर्धारी राजाओं ने स्वयंवर मण्डप में आकर उस यंत्र को भेदन करने का प्रयास किया; पर सफलता किसी को नहीं मिली। अन्त में जीवन्धर आलातचक्र द्वारा उसका भेदन करने में सफल हुए। इस प्रसंग पर ही राजा गोविन्दराज ने जीवन्धर का यथार्थ परिचय सबको दिया – "जीवन्धर महाराजा सत्यन्धर के राजपुत्र और मेरे भानजे हैं।

जीवन्धरकुमार के इस परिचय से दुष्ट काष्ठांगार अत्यन्त भयभीत हुआ तथा राजा गोविन्दराज को दिए निमंत्रण पर पश्चाताप करने लगा; तथापि उसने अन्य राजाओं के बहकावे में आकर जीवन्धर के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। फलस्वरूप युद्ध में काष्ठांगार मारा गया। तब राजा गोविन्दराज ने जीवन्धर का राजपुरी नगरी में वैभव के साथ राज्याभिषेक किया; जिससे सब को आनन्द हुआ। तदनन्तर गोविन्दराज ने अपनी कन्या 'लक्ष्मणा' का विवाह जीवन्धर के साथ हर्षोल्लासपूर्वक सम्पन्न करा दिया।

राजा जीवन्धर नीति-न्याय पूर्वक राजपुरी नगरी में राज्य करने लगे।

कुछ समय पश्चात् राजमाता विजया और सुनन्दा ने पद्मा नामक आर्यिका से दीक्षा ग्रहण कर ली और आत्म-साधना करने लगीं। राजा जीवन्धर ने तीस वर्ष तक निर्विघ्न रीति से राज्य किया। उनका प्रजा से पुत्रवत् व्यवहार था। प्रजा अत्यन्त सुखी और प्रसन्न थी। राज्य का कर चुकाना प्रजा को दान देने के समान आनन्दकारी लगता था।

एक समय राजा जीवन्धर बसन्त ऋतु में अपनी आठों रानियों के साथ जलक्रीड़ा करने के पश्चात् उद्यान में विश्राम कर रहे थे। तब वे देखते हैं कि एक बानरी अपने पति बन्दर का अन्य बानरी के साथ सम्पर्क देखकर रुष्ट और अप्रसन्न थी। उस बानरी को प्रसन्न करने के लिये बानर अनेक चेष्टाएँ कर रहा था। बन्दर ने एक कटहल का फल बानरी को देना चाहा, इतने में ही रक्षक माली ने आकर उस फल को छीन लिया। इस घटना का राजा जीवन्धर पर विशेष प्रभाव पड़ा और उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने सोचा कि कटहल के फल समान राज्य है। मैं माली के समान हूँ और काष्ठांगार बानर के समान है।

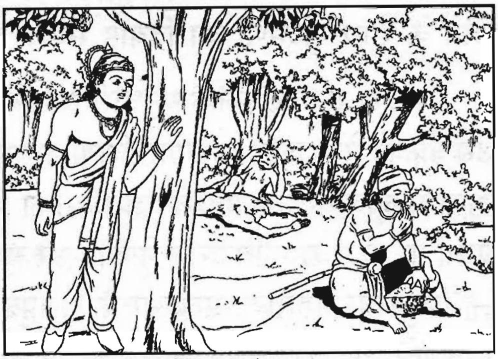

बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हुए जीवन्धर ने जिनमन्दिर में जाकर जिनेन्द्र भगवान की पूजन की। वहीं चारण ऋद्धिधारी मुनिराज से धर्मोपदेश सुनने के बाद अपने पूर्वभव के सम्बन्ध में पूछा।

मुनिराज ने बताया – "तुम पूर्वभव में धातकीखण्ड के भूमितिलक नगर में पवनवेग राजा के यशोधर नाम के पुत्र थे। तुमने बाल्यावस्था में क्रीड़ा करने के लिये हंस के बच्चों को पकड़ लिया था। पिता ने तुम्हें अहिंसाधर्म का स्वरूप समझाया। उसके पश्चात् तुम्हें अपने उस कार्य का

बहुत पश्चाताप हुआ। पिता के रोकने पर भी तुमने जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। उस समय आपकी आठों पत्नियों ने भी आर्यिका के व्रत धारण कर तुम्हारा अनुकरण किया था, जिससे तुमने आठों देवियों सहित स्वर्ग में देव पर्याय धारण की। देव आयु पूर्ण कर इस राजपुरी नगरी के राजा जीवन्धर हुए और वे आठों देवियाँ तुम्हारी रानियाँ हुईं। तुमने पूर्वजन्म में हंस के बच्चों को माता-पिता और स्थान से अलग कर पिंजड़े में बन्द किया था। उसके परिणामस्वरूप तुमको अपने माता-पिता से अलग होना पड़ा और बन्धन में रहना पड़ा।''

मुनिराज से अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनकर राजा जीवन्धर की वैराग्य भावना वृद्धिंगत हुई और उन्होंने राजमहल में जाकर गन्धर्वदत्ता के पुत्र सत्यन्धर को राज्य भार सौंपा और भगवान महावीर के समवसरण में जिनदीक्षा धारण की। आपकी आठों रानियों ने भी अपना शेष जीवन आत्मकल्याण करने में लगा दिया।

मुनिश्री जीवन्धरस्वामी ने घोर तपश्चरण किया और एक दिन आत्मस्थिरतापूर्वक केवलज्ञान की प्राप्ति कर अन्त में रेवानदी के किनारे सिद्धवर कूट (मध्यप्रदेश) से सिद्धपद प्राप्त किया, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

– ब्र. यशपाल जैन

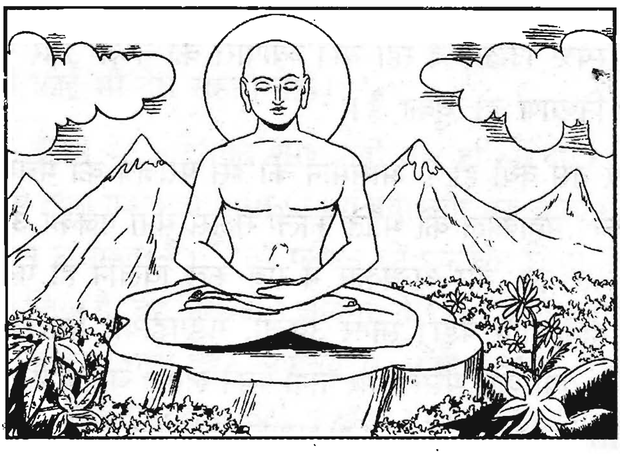

संसार-वृक्ष

देख तेरी वर्तमान दशा का एक सुन्दर चित्र दर्शाता हूँ। एक व्यापारी जहाज में माल भरकर विदेश को चला। अनेकों आशायें थीं उसके हृदय में। पर उसे क्या खबर थी कि अदृष्ट उसके लिए क्या लिये बैठा है। दूर क्षितिज में से साँय-साँय की भयंकर ध्वनि प्रगट हुई, जो बराबर बढ़ती हुई उसकी ओर आने लगी। घबरा गया वह, हैं ! यह क्या ? तूफान सरपर आ गया। आँधी का वेग मानों सागर को अपने स्थान से उठाकर अन्यत्र ले जाने की होड़ लगाकर आया है। सागर ने अपने अभिमान पर इतना बड़ा आघात कभी न देखा था। वह एकदम गर्ज उठा, फुंकार मारने लगा और उछल-उछलकर वायुमण्डल को ताड़ने लगा।

वायु व सागर का यह युद्ध कितना भयंकर था। दिशायें भयंकर गर्जनाओं से भर गईं। दोनों नये-नये हथियार लेकर सामने आ रहे थे। सागर के भयंकर थपेड़ों से आसमान का साहस टूट गया। वह एक भयंकर चीत्कार के साथ सागर के पैरों में गिर गया। घड़ड़ड़ड़ ! ओह ! यह क्या आफ़त आई ? आसमान फट गया और उसके भीतर से क्षणभर को एक महान प्रकाश की रेखा प्रगट हुई। रात्रि के इस गहन अन्धकार में भी इस वज्रपात के अद्वितीय प्रकाश में सागर का क्षोभ तथा इस युद्ध का प्रकोप स्पष्ट दिखाई दे रहा था। व्यापारी की नब्ज़ ऊपर चढ़ गई, मानों वह निष्प्राण हो चुका है।

इतने ही पर बस क्यों हो ? आसमान की इस पराजय को मेघराज सहन न कर सका। महाकाल की भाँति काली राक्षस सेना गर्जकर आगे बढ़ी और एक बार पुनः घोर अन्धकार में सब कुछ विलीन हो गया। व्यापारी अचेत होकर गिर पड़ा। सागर उछला, गड़गड़ाया, मेघराज ने जलवाणों की घोर वर्षा की। मूसलाधार पानी पड़ने लगा। जहाज में जल भर गया। व्यापारी अब भी अचेत था। दो भयंकर राक्षसों के युद्ध में बेचारे

व्यापारी की कौन सुने ? सागर की एक विकराल तरंग। ओह ! यह क्या? पुनः वज्रपात हुआ और उसके प्रकाश में.....? जहाज जोर से ऊपर को उछला और नीचे गिरकर जल में विलुप्त हो गया। सागर की गोद में समा गया। उसके आंगोपांग इधर-उधर बिखर गये। हाय, बेचारा व्यापारी, कौन जाने उसकी क्या दशा हुई।

प्रभात हुआ। एक तख़ते पर पड़ा सागर में बहता हुआ कोई अचेत व्यक्ति भाग्यवश किनारे पर आ गया। सूर्य की किरणों ने उसके शरीर में कुछ स्फूर्ति उत्पन्न की। उसने आँखें खोलीं। मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ हूँ ? यह कौन देश है ? किसने मुझे यहाँ पहुँचाया है ? मैं कहाँ से आ रहा हूँ? क्या काम करने के लिए घर से निकला था ? मेरे पास क्या है ? कैसे निर्वाह करूँ ? सब कुछ भूल चुका है अब वह।

उसे, नवजीवन मिला है, यह भी पता नहीं है उसे। किसकी सहायता पाऊँ, कोई दिखाई नहीं देता। गर्दन लटकाये चल दिया, जिस ओर मुँह उठा। एक भयंकर चीत्कार। अरे ! यह क्या ? उसकी मानसिक स्तब्धता भंग हो गयी। पीछे मुड़कर देखा। मेघों से भी काला, जंगम-पर्वत तुल्य, विकराल गजराज सूँढ़ ऊपर उठाये, चीख़ मारता हुआ, उसकी ओर दौड़ा। प्रभु ! बचाओ। **अरे पथिक ! कितना अच्छा होता यदि इसी प्रभु को अपने अच्छे दिनों में भी याद कर लिया होता।** अब क्या बनता है, यहाँ कोई भी तेरा सहारा नहीं।

दौड़ने के अतिरिक्त शरण नहीं थी। पथिक दौड़ा, जितनी जोर से उससे दौड़ा गया। हाथी सर पर आ गया और धैर्य जाता रहा उसका। अब जीवन असम्भव है। "नहीं पथिक तूने एक बार जिह्वा से प्रभु का पवित्र नाम लिया है, वह निरर्थक न जायेगा, तेरी रक्षा अवश्य होगी", (अन्तर्मन से) आकाशवाणी हुई। आश्चर्य से आँख उठाकर देखा, कुछ सन्तोष हुआ, सामने एक बड़ा वटवृक्ष खड़ा था। एकबार पुनः साहस बटोरकर

पथिक दौड़ा और वृक्ष के नीचे की ओर लटकती दो उपशाखाओं को पकड़कर वह ऊपर चढ़ गया।

हाथी का प्रकोप और भी बढ़ गया, यह उसकी मानहानि है। इस वृक्ष ने उसके शिकार को शरण दी है। अतः वह भी अब रह न पायेगा। अपनी लम्बी सूंढ़ से वृक्ष को वह जोर से हिलाने लगा। पथिक का रक्त सूख गया। अब मुझे बचानेवाला कोई नहीं। नाथ ! क्या मुझे जाना ही होगा, बिना कुछ देखे, बिना कुछ चखे ? "नहीं, प्रभु का नाम बेकार नहीं जाता। ऊपर दृष्टि उठाकर देख", (अन्तर्मन से) आकाशवाणी ने पुनः आशा का संचार किया। ऊपर की ओर देखा। मधु का एक बड़ा छत्ता, जिसमें से बूँद-बूँद करके झर रहा था उसका मद।

आश्चर्य से मुँह खुला का खुला रह गया। यह क्या ? और अकस्मात् ही – आ हा हा, कितना मधुर है यह ? एक मधु बिन्दु उसके खुले मुँह में गिर पड़ा। वह चाट रहा था उसे और कृतकृत्य मान रहा था अपने को। एक बूँद और। मुँह खोला और पुनः वही स्वाद। एक बूँद और....। और इसी प्रकार मधुबिन्दु के एक मधुर स्वाद में खो गया वह, मानों उसका जीवन बहुत सुखी बन गया है। अब उसे और कुछ नहीं चाहिए, एक मधुबिन्दु। भूल गया वह अब प्रभु के नाम को। उसे याद करने से अब लाभ भी क्या है ? देख कोई भी मधुबिन्दु व्यर्थ पृथ्वी पर न पड़ने पावे। उसके सामने मधुबिन्दु के अतिरिक्त और कुछ न था। भूल चुका था वह यह कि नीचे खड़ा वह विकराल हाथी अब भी वृक्ष की जड़ में सूड़ से पानी दे-देकर उसे ज़ोर-ज़ोर से हिला रहा है। क्या करता उसे याद करके, मधुबिन्दु जो मिल गया है उसे, मानों उसके सारे भय टल चुके हैं। वह मग्न है मधुबिन्दु की मस्ती में।

वह भले न देखे, पर प्रभु तो देख रहे हैं। अरेरे ! कितनी दयनीय है इस पथिक की दशा। नीचे हाथी वृक्ष को समूल उखाड़ने पर तत्पर है और ऊपर वह देखो दो चूहे बैठे उस डाल को धीरे-धीरे कुतर रहे

हैं, जिस पर कि वह लटका हुआ है। उसके नीचे उस बड़े अन्ध कूप में, मुँह फाड़े विकराल दाढ़ों के बीच लम्बी-लम्बी भयंकर जिह्वा लपलपा रहा है जिनकी। लाल-लाल नेत्रों से, ऊपर की ओर देखते हुए चार भयंकर अजगर मानों इसी बात की प्रतीक्षा में हैं कि कब डाल कटे और उनको एक ग्रास खाने को मिले। उन बेचारों का भी क्या दोष, उनके पास पेट भरने का एक यही तो साधन है। पथभ्रष्ट अनेकों भूले भटके पथिक आते हैं और इस मधुबिन्दु के स्वाद में खोकर अन्त में उन अजगरों के ग्रास बन जाते हैं। सदा से ऐसा होता आ रहा है, तब आज भी ऐसा ही क्यों न होगा ?

गड़ गड़ गड़, वृक्ष हिला। मधु-मक्षिकाओं का सन्तुलन भंग हो गया। भिनभिनाती हुई, भन्नाती हुई वे उड़ीं ! इस नवागन्तुक ने ही हमारी शान्ति में भंग डाला है। चिपट गईं वे सब उसको, कुछ सर पर, कुछ कमर पर, कुछ हाथों में, कुछ पावों में। सहसा घबरा उठा वह,....यह क्या ? उनके तीखे डंकों की पीड़ा से व्याकुल होकर एक चीख निकल पड़ी उसके मुँह से, 'प्रभु ! बचाओ मुझे'। पुनः वही मधुबिन्दु। जिस प्रकार रोते हुए शिशु के मुख में मधु भरा रबर का निपल देकर माता उसे सुला देती है, और वह शिशु भी इस भ्रम से कि मुझे स्वाद आ रहा है, सन्तुष्ट होकर सो जाता है; उसी प्रकार पुनः खो गया वह उस मधुबिन्दु में और भूल गया उन डंकों की पीड़ा को।

पथिक प्रसन्न था, पर सामने बैठे परम करुणाधारी, शान्तिमूर्ति जगत हितकारी, प्रकृति की गोद में रहने वाले, निर्भय गुरुदेव मन ही मन उसकी इस दयनीय दशा पर (करुणाद्र) आँसू बहा रहे थे। आखिर उनसे रहा न गया। उठकर निकल आये।

''भो पथिक ! एक बार नीचे देख, यह हाथी जिससे डरकर तू यहाँ आया है, अब भी यहाँ ही खड़ा इस वृक्ष को उखाड़ रहा है। ऊपर वह देख, सफेद व काले चूहे तेरी इस डाल को काट रहे हैं। नीचे देख वे अजगर

मुँह बाये तुझे ललचाई-ललचाई दृष्टि से ताक रहे हैं। इस शरीर को देख जिस पर चिपटी हुई मधु-मक्षिकायें तुझे चूँट-चूँटकर खा रही हैं। इतना होने पर भी तू प्रसन्न है। यह बड़ा आश्चर्य है। **आँख खोल, तेरी दशा बड़ी दयनीय है। एक क्षण भी बिलम्ब करने को अवकाश नहीं। डाली कटने वाली है। तू नीचे गिरकर निःसन्देह उन अजगरों का ग्रास बन जायेगा। उस समय कोई भी तेरी रक्षा करने को समर्थ न होगा। अभी भी अवसर है। आ मेरा हाथ पकड़ और धीरे से नीचे उतर आ। यह हाथी मेरे सामने तुझे कुछ नहीं कहेगा।** इस समय मैं तेरी रक्षा कर सकता हूँ। सावधान हो, जल्दी कर।"

परन्तु पथिक को कैसे स्पर्श करें वे मधुर-वचन। मधुबिन्दु के मधुराभास में उसे अवकाश ही कहाँ है यह सब कुछ विचारने का ? "बस गुरुदेव, एक बिन्दु और, वह आ रहा है, उसे लेकर चलता हूँ अभी आपके साथ।" बिन्दु गिर चुका। "चलो भय्या चलो", पुनः गुरुजी की शान्त ध्वनि आकाश में गूँजी, दिशाओं से टकराई और खाली ही गुरुजी के पास लौट आई। "बस एक बूँद और, अभी चलता हूँ", इस उत्तर के अतिरिक्त और कुछ न था पथिक के पास। तीसरी बार पुनः गुरुदेव का करुणापूर्ण हाथ बढ़ा। अब की बार वे चाहते थे कि इच्छा न होने पर भी उस पथिक को कौली (बाहों में) भरकर वहाँ से उतार लें; परन्तु पथिक को यह सब स्वीकार ही कब था ? यहाँ तो मिलता है मधुबिन्दु और शान्तिमूर्ति इन गुरुदेव के पास है भूख व प्यास, गर्मी व सर्दी तथा अन्य अनेकों संकट। कौन मूर्ख जाये इनके साथ ? लात मारकर गुरुदेव का हाथ झटक दिया उसने और क्रुद्ध होकर बोला – "जाओ अपना काम करो, मेरे आनन्द में विघ्न मत डालो।"

गुरुदेव चले गये, डाली कटी और मधुबिन्दु की मस्ती को हृदय में लिये, अजगर के मुँह में जाकर अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी उसने।

कथा कुछ रोचक लगी है आपको, पर जानते हो किसकी कहानी है?

आपकी और मेरी सबकी आत्मकथा है यह। आप हँसते हैं उस पथिक की मूर्खता पर, काश ! एक बार हँस लेते अपनी मूर्खता पर भी।

इस अपार व गहन संसार-सागर में जीवन के जर्जरित पोत को खेता हुआ मैं चला आ रहा हूँ। नित्य ही अनुभव में आनेवाले जीवन के थपेड़ों के कड़े अघातों को सहन करता हुआ, यह मेरा पोत कितनी बार टूटा और कितनी बार मिला, यह कौन जाने ? जीवन के उतार-चढ़ाव के भयंकर तूफान में चेतना को खोकर मैं बहता चला आ रहा हूँ, अनादिकाल से।

माता के गर्भ से बाहर निकलकर आश्चर्यकारी दृष्टि से इस सम्पूर्ण वातावरण को देखकर खोया-खोया-सा मैं रोने लगा; क्योंकि मैं यह न जान सका कि मैं कौन हूँ, मैं कहाँ हूँ, कौन मुझे यहाँ लाया है, मैं कहाँ से आया हूँ, क्या करने के लिए आया हूँ और मेरे पास क्या है जीवन निर्वाह के लिये ? सम्भवतः माता के गर्भ से निकलकर बालक इसीलिए रोता है। 'मानों मैं कोई अपूर्व व्यक्ति हूँ', ऐसा सोचकर मैं इस वातावरण में कोई सार देखने लगा। दिखाई दिया मृत्युरूपी विकराल हाथी का भय। डरकर भागने लगा कि कहीं शरण मिले।

बचपन बीता, जवानी आई और भूल गया मैं सब कुछ। विवाह हो गया, सुन्दर स्त्री घर में आ गई, धन कमाने और भोगने में जीवन घुलमिल गया, मानों यही है मेरी शरण अर्थात् गृहस्थ-जीवन; जिसमें हैं अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प, आशायें व निराशायें। यही हैं वे शाखायें व उपशाखायें, जिनसे समवेत यह गृहस्थ जीवन है वह शरणभूत वृक्ष। आयुरूपी शाखा से संलग्न आशा की दो उपशाखाओं पर लटका हुआ मैं मधुबिन्दु की भाँति इन भोगों में से आने वाले क्षणिक स्वाद में खोकर भूल बैठा हूँ सब कुछ।

कालरूप विकराल हाथी अब भी जीवन तरु को समूल उखाड़ने में तत्पर बराबर इसे हिला रहा है। अत्यन्त वेग से बीतते हुए दिन-रात ठहरे

सफेद और काले दो चूहे, जो बराबर आयु की इस शाखा को काट रहे हैं। नीचे मुँह बाये हुए चार अजगर हैं चार गतियाँ – नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव, जिनका ग्रास बनता, जिनमें परिभ्रमण करता मैं सदा से चला आ रहा हूँ और अब भी निश्चित रूप से ग्रास बन जाने वाला हूँ। यदि गुरुदेव का उपदेश प्राप्त करके इस विलासिता का आश्रय न छोड़ा तो। मधु-मक्षिकायें हैं – स्त्री, पुत्र व कुटुम्ब जो नित्य चूँट-चूँटकर मुझे खाये जा रहे हैं, तथा जिनके संताप से व्याकुल हो मैं कभी-कभी पुकार उठता हूँ 'प्रभु ! मेरी रक्षा करें''। मधुबिन्दु है वह क्षणिक इन्द्रिय सुख, जिसमें मग्न हुआ मैं न बीतती हुई आयु को देखता हूँ, न मृत्यु से भय खाता हूँ, न

कौटुम्बिक चिन्ताओं की परवाह करता हूँ और न चारों गतियों के परिभ्रमण को गिनता हूँ। कभी-कभी लिया हुआ प्रभु का नाम है वह पुण्य, जिसके कारण कि यह तुच्छ इन्द्रियसुख कदाचित् प्राप्त हो जाता है।

यह मधुबिन्दुरूपी इन्द्रिय सुख भी वास्तव में सुख नहीं, सुखाभास है। जिसप्रकार कि बालक के मुख में दिया जाने वाला वह निपल, जिसमें कुछ भी नहीं होता है। जिसप्रकार वह केवल मिठास की कल्पना मात्र करके सो जाता है उसी प्रकार इन इन्द्रिय-सुखों में मिठास की कल्पना करके मेरा विवेक सो गया है, जिसके कारण गुरुदेव की करुणाभरी पुकार मुझे स्पर्श नहीं करती तथा जिसके कारण उनके करुणाभरे हाथ की अवहेलना करते हुए भी मुझे लाज नहीं आती। गुरुदेव के स्थान पर है यह गुरुवाणी, जो नित्य ही पुकार-पुकारकर मुझे सावधान करने का निष्फल प्रयास कर रही है।

यह है संसार-वृक्ष का मुँह बोलता चित्रण व मेरी आत्मगाथा। भो चेतन! कबतक इस सागर के थपेड़े सहता रहेगा ? कबतक गतियों का ग्रास बनता रहेगा ? कबतक काल द्वारा भग्न होता रहेगा ? प्रभो ! ये इन्द्रियसुख मधुबिन्दु की भाँति निःसार हैं, सुख नहीं सुखाभास हैं, 'एक बिन्दुसम'। ये तृष्णा को भड़काने वाले हैं, तेरे विवेक को नष्ट करने वाले हैं। इनके कारण ही मुझे हितकारी गुरुवाणी सुहाती नहीं। आ ! बहुत हो चुका, अनादिकाल से इसी सुख के झूठे आभास में तूने आज तक अपना हित न किया। अब अवसर है, बहती गंगा में मुँह धोले। बिना प्रयास के ही गुरुदेव का यह पवित्र संसर्ग प्राप्त हो गया है। छोड़ दे अब इस शाखा को, शरण ले इन गुरुओं की और देख अदृष्ट में तेरे लिये वह परम आनन्द पड़ा है, जिसे पाकर तृप्त हो जायेगा तू, सदा के लिये प्रभु बन जायेगा तू।

– शान्तिपथ प्रदर्शन से साभार

रे जीव ! तू अपना स्वरूप देख तो अहा।
दृग-ज्ञान-सुख-वीर्य का भण्डार है भरा

ज्ञान के साथ विवेक

एक गुरुजी के दो शिष्य थे। एक का नाम आज्ञानंद था और दूसरे का नाम बोधानंद। दोनों में बड़ी मित्रता थी। वह साथ-साथ रहते थे। कहीं जाना होता तो दोनों साथ आते-जाते थे। दोनों में गुरुजी के प्रति बड़ी श्रद्धा और विश्वास था। गुरुजी के कथन को वे सदा सत्य मानते थे। किन्तु दोनों में एक अन्तर था। आज्ञानंद गुरुजी के कथन को शब्दशः मानता, उसमें अपने विवेक का प्रयोग नहीं करता था। किन्तु बोधानंद गुरुजी के कथन के मर्म तक पहुँचता और तदनुसार आचरण करता था।

किसी प्रसंग में गुरुजी ने उपदेश दिया था कि "सारे संसार में परमेश्वर का वास है, चाहे फिर वह चिंटी जैसा क्षुद्र हो अथवा हाथी जैसा विशाल हो, सभी परमात्मा को प्यार करते हैं। प्रत्येक जीव में उसी का निवास है।"

एक बार दोनों शिष्य शहर में गये। वहाँ एक तंग (सकड़ी) गली से गुजरते हुए हाथी को उन्होंने देखा। हाथी सामने से उनकी ओर चला आ रहा था। हाथी पर महावत बैठा हुआ था फिर भी हाथी की मस्ती में कोई कमी नहीं थी। हाथी जब दोनों शिष्यों के पास आया। तब बोधानंद ने कहा – मित्र ! एक तरफ हो जाओ, हाथी अपनी ओर ही आ रहा है। तब आज्ञानंद ने कहा – हाथी है तो क्या हुआ उसमें भी परमेश्वर का वास है। हमारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। बोधानंद तो वहाँ से जरा एक तरफ हट गया। किन्तु आज्ञानंद वही खड़ा रहा। तब महावत ने चिल्लाकर कहा – एक तरफ हट जाओ, परन्तु आज्ञानंद नहीं हटा। उसे रास्ते में खड़ा देख हाथी ने सूड से उठाकर उसे एक तरफ फैंक दिया और आज्ञानंद को बहुत चोट आई।

आश्रम में आकर आज्ञानंद ने गुरुजी को सारा वृतान्त सुनाया। और पूछा – मैं भी नारायण, हाथी भी नारायण। फिर नारायण ने नारायण को क्यों फैंक दिया।

इस पर गुरुजी ने कहा – भली कही। यह ठीक है कि तुम नारायण हो और हाथी भी नारायण है, किन्तु उस पर बैठे हुए महावत रूपी नारायण की बात तुमने क्यों नहीं मानी। अगर उस नारायण की बात मानते तो यह दशा नहीं होती।

"सारे संसार में परमेश्वर का वास है, चाहे फिर वह चिंटी जैसा क्षुद्र हो अथवा हाथी जैसा विशाल हो, सभी परमात्मा को प्यार करते हैं। प्रत्येक जीव में उसी का निवास है।" यह एक मात्र लोक में से लिया गया उदाहरण मात्र है। **जैन दर्शन के अनुसार सभी जीव स्वभाव से परमात्मा हैं और स्वभाव का आश्रय लेकर पर्याय में भी परमात्मा बन सकते हैं।**

इस उदाहरण से हमें यह शिक्षा मिलती है कि "हमें भी अपने जीवन के कल्याण हेतु शब्दज्ञान को नहीं, बल्कि अनुभव, विवेक और ज्ञानी धर्मात्माओं के अनुभवज्ञान को समझ में लेना होगा, तभी कल्याण होगा। आचार्यों ने कहा है कि आगम का (सेवन) अभ्यास, युक्ति का अवलम्बन, परम्परा गुरु का उपदेश और स्वानुभव ये चार सूत्र पूरे होने पर ही आत्मनुभव, रत्नत्रय, मोक्षमार्ग आरम्भ होता है।

हम शास्त्र तो पढ़ लें, पर उसका हार्द न समझें, तो सब व्यर्थ है। युक्ति से बात तो समझ लें, पर प्रयोजन भूल जायें या विपरीत निकाल लें तो भी सब व्यर्थ है।

इसीप्रकार गुरु का उपदेश तो सुनें पर तदनुसार अपने श्रद्धा-ज्ञान-आचरण को न बनायें, मात्र तोता की भांति उसे शब्दों में सीख लें, तो सब व्यर्थ है और कदाचित् किसी अपेक्षा ये तीनों बातें पूरी भी हो जायें, पर स्वयं अनुभव न करें, स्वयं उससे प्रभावित न हों, लाभान्वित न हों, तो सब व्यर्थ है। अतः कहा है –

सबसे पहले तत्त्वज्ञान कर, स्व-पर भेद-विज्ञान करो।
निजानन्द का अनुभव करके, भोगों में सुखबुद्धि तजो॥

तू तो सेठ है !

भिखारी नहीं, 'तू तो सेठ है।'

भिखारी ने आश्चर्य से पूछा – मैं सेठ हूँ ?

सेठजी ने कहा – हाँ।

भिखारी बोला – कैसे ?

सेठजी ने कहा – तू अपना भिखारीपन छोड़ दे और हमारे यहाँ काम करने लग जा।

भिखारी ने कठिनाई से अपने मन को समझाया और सेठजी की बात को स्वीकार करने का मानस बनाया और सेठजी से कहा – मैं आपके यहाँ काम करने को तैयार हूँ, पर आप मुझे धोखा मत देना, मेरा कोई सहारा नहीं है, मेरे तो ऊपर आकाश, नीचे धरती और मध्य में भिक्षा ही सहारा है।

सेठजी ने कहा– परिश्रम का फल मीठा होता है, तुम परिश्रम करते रहना, मैं तुम्हें विश्वास देता हूँ कि तुम्हें कभी धोखा न दूँगा। उसने सेठजी की बात मान ली।

सेठजी ने उससे कहा – तू पहले स्नान कर ले। फिर मैं दूसरे कपड़े देता हूँ, पहन ले, खाना देता हूँ, खा ले फिर जो काम देता हूँ, वह कर। सेठजी के कहे अनुसार वह कार्य करने लगा, सेठजी के यहाँ बहुत नौकर थे उन्हें नौकर की जरूरत तो नहीं थी, फिर भी उसे अपनी दुकान पर नौकर रख लिया। अब उससे प्रतिदिन काम लेते, खाना खिलाते और कुछ न कुछ समझाते रहते। वह काम करने में आलसी था। आखिर था तो भिखारी ही न। वह कुछ दिनों बाद जाने लगा, सेठजी ने समझाया तो वह रुक गया। सेठजी के नित्य कुछ न कुछ शिक्षा देने के कारण उसमें बहुत परिवर्तन आने लगा। जब उसका एक माह पूरा हुआ और सेठजी ने उसे उसका वेतन दिया तो वह उछल पड़ा। वह सेठजी की प्रशंसा करने लगा – सचमुच आप सबसे बड़े परोपकारी हो। आपने मुझे प्रतिदिन दोनों समय खिलाया और धन भी दिया । सदा के लिए पेट भरने की कला भी सिखा दी। सेठजी ने कहा – मैं कोई परोपकारी नहीं। तुमने जो मेहनत

की, उसी का यह मीठा फल है। वह सेठजी के यहाँ तीन वर्ष तक रहा। फिर पूरी ईमानदारी से अपना स्वाधीन धंधा कर जीवन-यापन करता हुआ धर्म धारण कर सुखी हो गया।

इसीप्रकार ज्ञानी जीव इस जगत में भटकते संसारी जीवों को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि तुम दुःखी नहीं हो, तुम तो सुख से भरे हुए आत्मा हो।

अज्ञानी भव्यात्मा जिज्ञासा व आश्चर्य से पूछता है कि क्या मैं सचमुच सुख से भरा हुआ हूँ ?

आचार्य कहते हैं – हाँ !

अज्ञानी भव्यात्मा – कैसे ?

आचार्य कहते हैं – सबसे पहले तो तुम अपने को दुःखी मानना छोड़ दो, परद्रव्य से अपने को सुखी मानना छोड़ दो और हमारी बात ध्यान से सुनो।

अज्ञानी भव्यात्मा बोला – मानने से क्या होगा ?

आचार्य कहते हैं – मानकर तो देखो, स्वयं पता चल जायेगा।

अज्ञानी भव्यात्मा आचार्य की यह बात स्वीकार कर यह मानने लगा कि मैं दुःखी नहीं हूँ, मैं परद्रव्य से सुखी नहीं होता। परन्तु अपने को सुखी तो फिर भी नहीं देख पाया। अतः आचार्य से बोला – महाराज मैंने आपके कहे अनुसार मान तो लिया है, पर सुखी तो नहीं हुआ।

आचार्य बोले – अब तुझे क्या दुःख है ?

वह बोला – अकेले मन ही नहीं लगता, बार-बार वहीं जाता है और उनकी याद में और भी ज्यादा दुःखी हो जाता हूँ।

आचार्य ने कहा – किसकी याद आती है ?

वह बोला – दुकान की, धंधे की, परिवार की, भोगों आदि की।

आचार्य बोले – गाँव के बाहर जो आम का बाग है, उसकी याद आती है कि नहीं ?

वह बोला – उसकी तो याद नहीं आती।

आचार्य बोले – क्यों ?

वह बोला – क्योंकि वह तो मेरा है ही नहीं।

आचार्य बोले – तब फिर क्या दुकान, धंधा, परिवार, भोग ये सब तेरे हैं। यदि तू इन्हें अपना मानता है उनसे अपने को सुखी मानता है तब फिर तूने इनसे अपने को सुखी मानना छोड़ दिया – यह कैसे कहा जा सकता है ? ये सब तेरे नहीं हैं, यदि तू ऐसा मानता है तो फिर तुझे उनकी याद क्यों आती है ? आम के बाग की याद तो नहीं आती।

वह बोला – बस ! आचार्य देव, अब कुछ कहने की जरूरत नहीं है, मुझे सब समझ में आ गया। अब मैं परद्रव्य को अपने से भिन्न कोरी वाणी में नहीं, विचारों में नहीं, बल्कि अपनी मान्यता में, श्रद्धा में, ज्ञान में एवं आचरण में स्वीकार करता हूँ। उस गाँव के बाहर आम के बाग की तरह।

वह आगे बोला – आचार्य देव ! आपने मेरे ज्ञानचक्षु खोलकर मेरे ऊपर अनंत-अनंत उपकार किया है। अब तो मैं आपके ही पास रहकर इस ज्ञान कला में पारंगत होऊँगा।

आचार्य बोले – मैं तो तुम्हारे लिए परद्रव्य हूँ।

वह बोला – यह बात मुझे भलीभांति पता है, फिर भी मैं आपको तबतक नहीं छोड़ सकता, जबतक इस कला मैं पारंगत नहीं हो आऊँ।

आचार्य बोले – अब मुझे कुछ नहीं कहना है।

फिर वह पात्र भव्यात्मा आचार्य के साथ रह कर पहले शिक्षा, फिर दीक्षा लेकर अपनी साधना पूर्ण कर अल्पकाल में अपने परिपूर्ण सुख स्वभाव को पर्याय में प्रगट कर – अरहंत-सिद्ध दशा प्रगट कर अनंत काल के लिए सुखी हो गया।

हमें भी ऐसा ही करना है। इस कार्य को करने के हमें सर्व प्रकार की अनुकूलता मिली है, अवसर चूकना योग्य नहीं है।

अति दुर्लभ अवसर पाया है, जग प्रपंच में नहीं पड़ो।
करो साधना जैसे भी हो, यह नरभव अब सफल करो।।

सत्य का प्रभाव

पुराने समय में एक खूँखार डाकू था। वह लोगों को मारता, लूटता, डाके डालता और उनका धन लूट लेता; उसके पुण्योदय से एक दिन उसे एक मुनिराज के दर्शन हो गये, उसकी उनपर श्रद्धा भी थी। वे उसे अच्छे भी लगते थे। जब वह धर्मोपदेश की अभिलाषा से महाराज के पास बैठा तब महाराज ने पूछा – "तुम जो लूट के धन लाते हो, उसे तुम्हारे सारे परिवार के लोग खाते हैं; उससे तुम्हें जो पाप लगता हैं, उसके पाप में भी तुम्हारे परिवार के सदस्य हिस्सा लेंगे ? तुम घर में पूछना।"

डाकू घर गया और उसने सबसे पूछा कि तुम भी मेरे पाप के भागी बनोगे? सब ने मना कर दिया। उसने मुनिराज से कहा – स्वामिन् ! मेरा डाका डालना नहीं छूट सकता, इसलिए पाप को कम करने के लिए क्या करूँ ? मुनिराज ने कहा कि जो तुम झूठ बोलकर पाप को बढ़ाते हो, उस पाप को घटाने के लिए झूठ बोलना छोड़ दो।

उसने झूठ बोलना छोड़ दिया। अगले दिन वह राजमहल में चोरी करने गया। पहरेदार ने पूछा – कहाँ जा रहे हो ? डाकू ने कहा डाका डालने के लिए। पहरेदार ने राजकुमार समझ कर जाने दिया। जब वह सन्दूक लिए हुए बाहर निकला तो पहरेदार ने पूछा किस चीज की सन्दूक ले जा रहे हो ? डाकू ने कहा हीरे की। पहरेदार ने पूछा किस से पूछ कर ? डाकू ने कहा डाका डालकर। पहरेदार ने कहा – चिढ़ते क्यों हो, जाओ। सुबह हुई तब पता चला कि हीरे का सन्दूक गायब है। तब पहरेदार ने रात की सारी घटना राजा को सुनाई। राजा ने डाकू का पता लगा कर उसकी सच्चाई से खुश होकर उसे जिन्दगी भरके लिए खर्च दे दिया और नौकरी भी दे दी। अब डाकू के पास धन हो गया और उसने डाका डालने की आदत छोड़ दी। बाद में वह मुनि बन गया।

वह तो सुधर गया, पर हम...

एक गाँव में एक कृषक रहता था, वह जब देखो तब नास्तिक जैसी ही बातें करता रहता था। पुण्य-पाप, परलोक आदि को नहीं मानता था। वह कहता था कि 'मेरा देवता तो मेरा खेत-खलियान ही है, जब मैं इसमें बीज ही नहीं बोऊँगा, तब मुझे खाने के लिए कौन देकर जायेगा। अत: अनुकूल संयोग पुण्य से मिलते हैं और पाप से छूट जाते हैं – इस बात कुछ भी दम नहीं है।'

हमेशा की तरह एक बार उसने अपने खेत में बीज बोया, उसे पानी से सींचा, जानवरों से बचाया, फसल भी पक कर तैयार हो गई; परन्तु फसल उसे प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि दाना निकालने के पूर्व ही उसके खेत में भयंकर आग लग गई और सारा अनाज जलकर राख हो गया।

जब उसने सम्पूर्ण फसल नष्ट होते हुए अपनी आँखों से देखी और कुछ न कर पाया, तब अचानक उसके मुँह से निकला – "हे भगवान ! मैंने ऐसे कौन से पाप किये, जिसके फल में मुझे ऐसा दिन देखना पड़ा।"

तब उसके पास खड़े उसके साथियों में से एक ने कहा –

भाई ! आप न तो भगवान को मानते हो और न ही पाप-पुण्य को, फिर ऐसी बातें क्यों करते हो?

दूसरा बोला – आप तो सबका कर्त्ता-धर्त्ता स्वयं को ही मानते हो, फिर अब मूक दर्शक बने क्यों खड़े रहे ?

तीसरा कुछ सज्जन सा व्यक्ति बोला – अरे, यह समय इसप्रकार की व्यंगोक्ति करने का नहीं है। यह तो उसके प्रति दया, करुणा और सहयोग करने का समय है।

चौथा बोला – यह बात बिल्कुल ठीक है, पहले हम सब मिलकर

इसके लिए कुछ आवश्यक वस्तुएँ एकत्रित कर लेते हैं। फिर क्या था – किसी ने वस्त्र, किसी ने अनाज, किसी ने नगदी देकर उसे निश्चिंत कर दिया।

फिर वह सज्जन व्यक्ति बोला – आप सबने इसका सहयोग किया – इसके लिए आप सबको धन्यवाद ! अब मैं आप सबसे एक प्रश्न पूँछता हूँ कि आप सबने सहयोग किया – यह तो सत्य है। सबने एक स्वर में कहा कि इसमें सन्देह की क्या बात है ?

तब उसने कहा कि इसका कर्त्ता आप अपने को मानते हो – इसका मतलब यह है किआप भी पुण्य-पाप, भवितव्य, योग्यता, निमित्त आदि को नहीं मानते। यह सुनकर सब विचार में पड़ गये।

तब उसने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा – हम सब जबतक कार्य-कारण योग्यता को भलीप्रकार यथार्थ नहीं जानेंगे, तबतक ऐसे ही भ्रम में पड़े रहेंगे। अभी तक हम यह भी मानते आ रहे हैं कि सबको अपने-अपने पुण्य-पाप के उदयानुसार ही संयोग प्राप्त होते हैं और यह भी मानते हैं कि हमने दूसरे का सहयोग किया, दूसरे ने हमारा सहयोग किया, अथवा हमने अपने पुरुषार्थ से अपना कार्य किया इसमें तुमने क्या किया आदि आदि....।

सब उस महानुभाव के विचार काफी गंभीरता से सुन रहे थे, वह कृषक भी यह विचार सुनकर तथा सबका सहयोग प्राप्त कर, पहले व दूसरे व्यक्ति के द्वारा की गई व्यंगोक्तियों को याद कर मन ही मन सोच रहा था कि –

"वास्तव में सत्य तो यही है, जो सेठजी कह रहे हैं, मैं अनेक वर्षों से इनकी दुकान पर जाता रहा, पर ये रूप तो इनका मैंने आज ही देखा, ये तो बड़े विद्वान हैं, इनकी तो निरन्तर संगति करके सही वस्तु स्वरूप जानकर अपने यथार्थ सुख का मार्ग समझना चाहिए।"

अब तो उसे जब भी अपने काम से समय मिलता वह सेठजी की

दुकान के चबूतरे जाकर बैठ जाता और सेठजी बातें ध्यान से सुनता रहता। विचार भी करता, पर उसको और बहुत सी व्यावहारिक व धार्मिक बातों का ज्ञान तो प्राप्त हुआ पर कार्य-कारण व्यवस्था के सम्बंध में उसकी जिज्ञासा अभी भी बनी रही। उसने एक दिन अत्यंत विनम्रता पूर्वक सेठजी से निवेदन किया कि वे कार्य-कारण व्यवस्था के सम्बंध में उसे थोड़ा खोलकर समझाने की कृपा करें।

तब सेठजी ने कहा – तुम्हारी जिज्ञासा देखकर मैं थोड़ा समझाता हूँ, फिर भी यदि और अच्छी तरह समझने का भाव हो तो प्रति रविवार को मन्दिरजी में कक्षा चलती है, वहाँ आया करो।

उसने कहा – मैं वहाँ तो आऊँगा ही, पर मुझे वहाँ कुछ समझ में आ सके – इतना ज्ञान तो आप ही दे दो।

उसकी तीव्र जिज्ञासा देखकर सेठजी ने कुछ उदाहरणों के माध्यम से उसे समझाने का इसप्रकार उद्यम शुरु किया। सुनो,

जैसे - किसी को धंधा करने से पैसा मिले तो वह कोई धंधा करने का फल नहीं है वह तो उसके पूर्व पुण्य के उदय का फल है, क्योंकि उसी प्रकार के धंधे में किसी को उतना अधिक पैसा नहीं मिलता और उसको भी कभी मिलता है, कभी नहीं मिलता। इससे पता चलता है कि वह पैसा उसे धंधे से नहीं मिला, बल्कि उसके पूर्व पुण्य के उदय से मिला है। पर उसने जो धंधा करने का भाव किया उससे तो उसे धंधा करने के विकल्प का दुःख एवं अशुभ भाव होने से पाप का ही बंध हुआ।

इसीप्रकार किसी के प्रवचन करने या सुनने का भाव किया या किसी का भला करने का भाव किया उससे तो उसे प्रवचन करने के विकल्प का, प्रवचन सुनने के विकल्प का, भला करने के विकल्प का वास्तव में तो दुःख ही हुआ, क्योंकि किसी भी प्रकार का विकल्प हो दुःखस्वरूप व दुःखदायी ही होता है। हाँ ! इतना अवश्य है कि यदि वह विकल्प शुभरूप हो तो पुण्यबंध करता है और अशुभरूप हो तो पापबंध करता है।

इसमें धंधा करना कारण है, पैसे का आना कार्य है। यह कारण-कार्य पना ठीक नहीं है।

इसमें धंधा करना भी **एक कार्य है,** धंधा करने में धंधे करने का **विकल्प निमित्त कारण** है। धंधेरूप परिणमित हुआ **पदार्थ उपादान कारण** है। यह कारण-कार्यपना ठीक है।

पैसे का आना भी **एक कार्य है** और पूर्व पुण्य का **उदय निमित्त कारण** है। पैसेरूप परिणमित हुआ पदार्थ **उपादान कारण** है। यह कारण-कार्यपना ठीक है।

प्रवचन का करना भी **एक कार्य है,** प्रवचन करने का **विकल्प निमित्त कारण** है। प्रवचनरूप परिणमित हुआ **पदार्थ (शब्द) उपादान कारण** है। यह कारण-कार्यपना ठीक है।

प्रवचन का सुनना भी **एक कार्य है,** प्रवचन सुनने का **विकल्प निमित्त कारण** है। प्रवचन सुनने रूप परिणमित हुआ **पदार्थ (ज्ञान) उपादान कारण** है। यह कारण-कार्यपना ठीक है।

भला करना भी **एक कार्य है,** भला करने का **विकल्प निमित्त कारण** है। भला होनेरूप परिणमित हुआ सामनेवाला **पदार्थ उपादान कारण** है। यह कारण-कार्यपना ठीक है।

बुरा करना भी **एक कार्य है,** बुरा करने का **विकल्प निमित्त कारण** है। बुरा होनेरूप परिणमित हुआ सामनेवाला **पदार्थ उपादान कारण** है। यह कारण-कार्यपना ठीक है।

इसीप्रकार भाषा का बोलना, पुस्तक का ग्रहण करना, भोजन का ग्रहण करना, शरीर का पुष्ट होना, निर्बल होना इत्यादि जो कुछ भी दिखाई देता है वह सभी जड़ का कार्य है, उसमें चेतन निमित्त है स्वयं अचेतन द्रव्य उपादान है। इसीप्रकार जानना, देखना, अनुभव करना इत्यादि सभी चेतन के कार्य हैं, उसमें जड़ द्रव्य निमित्त है और स्वयं चेतन द्रव्य उपादान है।

जो यह मानता है कि अचेतन पदार्थों के कार्य का कर्त्ता जीव है, वह जीव-अजीव के कारण-कार्य के संबंध में भयंकर भूल करता है और इस कारण परद्रव्यों को अपने अनुसार परिणमाने के विकल्प में सदा दुःखी बना रहता है।

भाई ! यह बताओ कि क्या तुमने कभी जीव को देखा है ? यदि नहीं देखा तो फिर तुम कैसे कहते हो कि अजीवादि परद्रव्य का जीव करता है। जिस वस्तु को तुमने देखा ही नहीं, फिर उसके ऊपर मुफ्त का झूठा आरोप क्यों लगाते हो ? यदि जीव को तुमने देखा होता तो वह तुम्हें चैतन्यरूप ही दिखाई देता। ज्ञाता-दृष्टा ही दिखाई देता। फिर तुम उसे परद्रव्य का कर्त्ता कभी नहीं मानते। इसलिए तुम बिना देखे जीव के ऊपर अजीव के कर्तृत्व का मिथ्या आरोप मत लगाओ। यदि झूठा आरोप लगाओगे तो तुम्हें उस अपराध की सजा भी मिलेगी। तुम झूठे कहलाओगे।

जैसे - राजमहल में चोरी हुई, एक सज्जन मनुष्य जो कभी राजमहल में गया ही नहीं, जिसने कभी राजमहल को देखा भी नहीं। यदि कोई उसके ऊपर कलंक लगावे कि राजमहल से चोरी इसी ने की है तो कलंक लगाने वाले से पूछा जाता है कि हे भाई !

क्या उस मनुष्य को तुमने चोरी करते देखा है ? नहीं

क्या उस मनुष्य को तुम जानते हो ? नहीं

क्या उस मनुष्य के पास तुमने चोरी का माल देखा है ? नहीं

तो फिर, अरे दुष्ट ! जिस मनुष्य को तूने चोरी करते देखा नहीं, जो मनुष्य राजमहल में कभी आया नहीं, जिस मनुष्य को तू जानता तक नहीं और जिस मनुष्य के पास चोरी का सामान होने की कोई निशानी नहीं – ऐसे सज्जन मनुष्य के ऊपर तू चोरी करने का मिथ्या आरोप लगाता है, तुझे इस अपराध की सजा मिलेगी। तू जगत में झूठा कहलायेगा।

इसीप्रकार जड़ शरीररूपी महल में किसी भी प्रकार का कार्य हुआ।

जैसे - हिलना, बोलना, खाना, पीना, बीमार होना, स्वस्थ्य होना आदि। दूसरा चेतन तत्त्व उस समय भी उससे भिन्न ही रहा, जानने-देखने वाला ही रहा, वह कभी पुद्गल में गया नहीं, पुद्गलरूप हुआ नहीं। फिर भी अज्ञानी उसके ऊपर कलंक लगाता है कि जड़ की क्रिया का कर्त्ता यह जीव है। तो कलंक लगाने वाले उस अज्ञानी से ज्ञानी पूछते हैं कि हे भाई !

क्या जीव को जड़ की क्रिया करते तुमने देखा है ? नहीं
क्या तुम अतीन्द्रिय अरूपी जीव को जानते हो ? नहीं
क्या जीव के अन्दर तुमने पुद्गल की कोई क्रिया देखी है ? नहीं

तो फिर, अरे अज्ञानी ! जिस जीवतत्त्व को जड़ का काम करते तुमने देखा नहीं, जो जीवतत्त्व शरीर के पुद्गलरूप हुआ नहीं तथा जिस जीवतत्त्व में जड़ शरीर की कोई निशानी नहीं – ऐसे अतीन्द्रिय अरूपी जीवतत्त्व के ऊपर तुम जड़ पुद्गल के साथ सम्बंध का मिथ्या आरोप लगाते हो, तुम्हें मिथ्यात्व का महापाप लगेगा। चैतन्यतत्त्व के अवर्णवादरूप महा-अपराध की तुझे सजा मिलेगी। तू चार गति की जेल में अनन्त दुःख भोगेगा।

इसलिए तू समझले कि जड़ की क्रिया और ज्ञान की क्रिया – दोनों एक साथ होने पर भी दोनों के कारण-कार्य बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं।

अन्त में वह कृषक बोला – यह तो मुझे भलीप्रकार समझ में आ गया। परन्तु **अपनी चर्चा के बीच में निमित्त-उपादान के नाम आये थे।** ये क्या हैं ? कृपया इनका भी स्वरूप बताइये न ?

जो पदार्थ स्वयं तो कार्यरूप न परिणमे, परन्तु कार्य के होने में जिस पर आरोप किया जा सके उसे निमित्त कहते हैं। तथा जो स्वयं कार्यरूप परिणमे उसे उपादान कहते हैं।

इसकी विस्तृत चर्चा फिर कभी करेंगे अथवा जब रविवारीय कक्षा में आओगे तब समझ लेना। ●

मनुष्य भव की सार्थकता किसमें ?

(गौतम ब्राह्मण की तरह या रुद्रदत्त ब्राह्मण की तरह ?)

इस जम्बूद्वीप की अयोध्या नगरी में अनन्तवीर्य नाम का राजा रहता था। उसी नगरी में कुबेर के समान सुरेन्द्रदत्त नाम का सेठ रहता था। वह सेठ प्रतिदिन दस दीनार से, अष्टमी को सोलह दीनार से, अमावस्या को चालीस दीनार से और चतुर्दशी को अस्सी दीनार से अरहन्त भगवान की पूजा करता था। इस प्रकार वह अपनी संचित पूंजी का सदुपयोग करता था। सुपात्र को दान देता था, चारित्र का पालन करता था और उपवास करता था। इन सब कारणों से सेठ ने 'धर्मशील' नाम का पद प्राप्त किया था।

एक दिन जब उसने जलमार्ग से विदेश जाकर धन कमाने का विचार किया, और बारह वर्ष व्यापार में लग जावेंगे – ऐसा जानकर उसने बारह वर्ष तक भगवान की पूजा करने के लिये जितना धन चाहिये था उतना धन अपने मित्र रुद्रदत्त ब्राह्मण को सौंपा और कहा कि इस धन से तू जिनपूजादि कार्य करते रहना।

सेठ के परदेश जाने के पश्चात् रुद्रदत्त ब्राह्मण ने थोड़े ही दिनों में समस्त ही धन परस्त्री तथा जुआ आदि व्यसनों में खर्च कर दिया। उसके बाद वह चोरी आदि कार्य करने लगा। एक रात श्येनक नाम के कोतवाल ने उसे चोरी करते देखकर कहा कि तू ब्राह्मण है, अत: मैं तुझे मारता नहीं हूँ परन्तु तू यह नगर छोड़कर चला जा। यदि फिर किसी समय तुझे ऐसा काम करते हुए देख लिया तो मैं तुझे यमराज के पास भेज दूंगा – ऐसा कहकर उस पर क्रोधित हुआ। रुद्रदत्त भी वहाँ से निकल कर उल्काभिमुख पर रहने वाले भीलों के स्वामी पापी कालक से जा मिला।

एक समय रुद्रदत्त अयोध्या नगरी में गायों के समूह का अपहरण करने आया था, वहाँ श्येनक कोतवाल द्वारा मारे जाने पर वह जीवन पर्यंत किये गये महापाप के कारण सातवें नरक में गया। वहाँ से निकलकर दृष्टिविष नाम

का सर्प हुआ फिर नरक गया और वापिस सर्प बना, फिर नरक गया और वहाँ से आकर भील बना। इस प्रकार सभी नरकों में जाकर बहुत दुःख और कष्टों में से बाहर निकलकर त्रस-स्थावर योनियों में बहुत काल तक परिभ्रमण करता रहा।

अन्त में इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरुजंगल देश के हस्तिनापुर नगर में जब राजा धनंजय राज्य करता था तब गौतम गोत्री कपिष्टल नाम के ब्राह्मण के अनुंधर नाम की अंध-स्त्री से वह रुद्रदत्त का जीव अत्यन्त गरीब परिवार में गौतम नाम का पुत्र हुआ। पुत्र उत्पन्न होते ही पूरे के पूरे परिवार का नाश हो गया। उसे खाने के लिये अन्न नहीं मिलता था, उसका पेट सूख गया था और हड्डियाँ व नसें दिखने लगी थीं। जिससे उसका शरीर बहुत खराब लगता था। उसके बालों में लीखें पड़ी थी। जहाँ भी वह सोता वहाँ के मनुष्य उसे मारते थे। अपनी शरीर की स्थिति के लिये, कभी भी अलग न हो – ऐसे मित्र समान भिक्षापात्र को वह सदा अपने हाथ में रखता था। इच्छित रस पाने को वह हमेशा "दो, दो" ऐसे शब्दों द्वारा मात्र भीख मांगने से ही संतोष प्राप्त करने का लालची था, परन्तु इतना अभागा था कि भिक्षा द्वारा उसका पेट नहीं भरता था। जिस प्रकार त्योहारों के दिन में कौआ खाना ढूंढ़ने के लिये इधर-उधर भटकता रहता है, उसी प्रकार वह भी भिक्षा प्राप्त करने के लिये इघर-उधर भटकता रहता था। वह सर्दी, गर्मी और हवा के झपट्टे बारम्बार सहन करता था। वह हमेशा गंदा रहता था। मात्र रसनेन्द्रिय के विषय की इच्छा रखता था, अन्य सभी इन्द्रियों का रस छूट गया था।

जिसप्रकार राजा हमेशा दण्डधारी होता है, वैसे ही यह भी हमेशा दण्डधारी ही रहता था – हाथ में लकड़ी रखता था। "सातवें नरक में उत्पन्न होने वाले नारकी का रूप ऐसा होता है" मानो नरक के दुःख दर्शाने के लिए ही वह जन्मा हो अथवा मानो सूर्य के भय से अंधकार का समूह मनुष्य का रूप धारण करके चल रहा हो – ऐसा लगता था। तात्पर्य यह है कि वह अत्यन्त घृणास्पद था, पापी था। यदि उसे किसी दिन कष्टपूर्वक पूर्ण आहार मिल जाता तो भी आँखों से अतृप्त जैसा लगता था। वह जीर्णशीर्ण व फटे हुए कपड़े अपनी

कमर में बांधे रखता था। उसका शरीर बहुभाग चोटों से युक्त था, उसमें से दुर्गन्ध आती थी। तथा उसे भिनभिनाती मक्खियाँ हमेशा घेरे रहती थी, वह कभी हटती नहीं थी। मक्खियों के चिपकने से उसे बहुत गुस्सा आता था। नगर के बालकों का झुण्ड हमेशा उसके पीछे-पीछे रहता था और पत्थर आदि प्रहारों से उसे पीड़ा पहुँचाता था। वह क्रोधित होकर उन बालकों के पीछे दौड़ता भी था, परन्तु बीच में ही गिर जाता था। इस प्रकार वह अनेक कष्ट पूर्वक अपने दिन बिता रहा था।

किसी एक समय कालादि-लब्धियों की अनुकूल प्राप्ति से वह आहार के लिये नगर में भ्रमण करने वाले समुद्रसेन नाम के मुनिराज के पीछे जाने लगा। मुनिराज का आहारदान श्रवण सेठ के यहाँ हुआ। सेठ ने उस गौतम ब्राह्मण को भी भरपेट भोजन करा दिया। भोजन करने के बाद वह मुनिराज के आश्रम में जाकर कहने लगा कि आप मुझे अपने जैसा बना दो। मुनिराज ने उसके वचन सुनकर पहले तो यह निर्णय किया कि यह वास्तव में भव्य है। फिर उसे कुछ दिनों तक अपने पास रखकर उसके हृदय की परख की, तत्पश्चात् वह श्रीमुनि के चरणों का चेरा बन कर स्वाध्याय-साधना-आराधना में लग गया और उसने शान्ति के साधनभूत सम्यग्दर्शन पूर्वक संयम ग्रहण कर लिया। उसको एक वर्ष पश्चात् बुद्धि आदि ऋद्धियाँ भी प्राप्त हो गई।

अब वह गुरु के स्थान तक पहुँच गया, उनके समान बन गया। आयु के अन्त में उसके गुरु मध्यम ग्रैवेयक के सुविशाल नाम के उपरितन विमान में अहमिन्द्र हुए और श्री गौतम मुनिराज भी अंत में भले प्रकार से विधिपूर्वक आराधनाओं की आराधना करके समाधिमरण करके उसी मध्यम ग्रैवेयक के सुविशाल विमान में अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुए। वहाँ के दिव्यसुख का उपभोग प्राप्त करके वह ब्राह्मण मुनि का जीव अट्ठाईस सागर की आयु पूर्ण होने पर वहाँ से चयकर अन्धकवृष्टि (श्री नेमिनाथ भगवान के दादाजी) नाम का राजा हुआ।

एकबार उनने सुप्रतिष्ठित जिनेन्द्र के समीप जाकर अपने पूर्वभव

पूछे और अपने पूर्वभवों का वृतान्त सुनकर संसार से भयभीत हो गया, अत: परमपद – मोक्षपद प्राप्त करने की इच्छा से उन्होंने विधि पूर्वक समुद्रविजय को राज्य सौंप दिया और स्वयं समस्त ही परिग्रह छोड़कर, शान्तचित्त होकर उन्हीं सुप्रतिष्ठित जिनेन्द्र के समीप बहुत राजाओं के साथ तप धारण कर लिया। इस प्रकार संयम धारण करके अन्त में समाधिमरण किया और कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लिया।

इस कथानक को पढ़कर हमें यह विचार करना चाहिए कि वह रुद्रदत्त का जीव मोक्ष की साधना करने में समर्थ मनुष्य भव, उत्कृष्ट कुल व सभी प्रकार की अनुकूलता पाकर भी विषयों में सुख बुद्धिरूप मिथ्यात्व के प्रभाव से मंदिर पूजा के लिए प्राप्त द्रव्य को सप्त व्यसनादि में लगाकर चोरी आदि निकृष्ट कार्यों को करके नरकादि के दु:ख को प्राप्त हुआ। पश्चात् अनेक भवों में अनंत दु:ख भोगे, जिन्हें कथानक में पढ़ते समय हमारे रोंगटे खड़े हो गये थे।

हम भी कहीं इस दुर्लभ मनुष्य भव – उत्कृष्ट कुल, स्वस्थ्य आजीविका, स्वास्थ्य की अनुकूलता, पूर्ण आयु, जिनधर्म का समागम, देव-शास्त्र-गुरु की आराधना, जिनवाणी का अध्ययन-मनन-चिन्तन पाकर भी अपने मिथ्या अभिप्राय का पोषण करते हुए कषायों को बढ़ाते हुए, पापों में लिप्त होकर, निश्चयाभास, व्यवहाराभास या फिर उभयाभास रूप अज्ञान में संतुष्ट होकर इस मनुष्य भव को रुद्रदत्त ब्राह्मण की तरह अपने अनंत दुखों का कारण तो नहीं बना रहे हैं।

अत: सावधान ! अब हम भी अपने ज्ञाता स्वभाव को जाने पहिचानें, आत्मा का स्वभाव मात्र सबको जानने का है, उन्हें करने धरने या भोगने का नहीं – ऐसा जानकर अपने जीवन में सहज शांति धारण कर स्वरूप की साधना करें, अहमिन्द्रादि पद पाकर भी उसमें लिप्त न होते हुए वहाँ से चय कर अंधकवृष्टि राजा (भगवान नेमीनाथ के दादा) के भव में मोक्ष प्राप्त करने वाले उस गौतम ब्राह्मण की तरह साधना करें न कि रुद्रदत्त ब्राह्मण की तरह अपने को अनंत दु:ख का भाजन – पात्र बनायें। ●

देखो ! स्वरूप की आराधना का फल

(लड़ते हैं दासी के लिये वरते हैं शिव-रमणी)

जम्बूद्वीप के मंगला देश के अलका नगर में एक धरणीजड़ नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी ब्राह्मणी का नाम अग्निला था। उसके दो पुत्र थे। एक का नाम इन्द्रभूति दूसरे का नाम अग्निभूति था। वे दोनों भाई मिथ्याज्ञानी थे। उसी ब्राह्मण के यहाँ एक कपिल नाम का दासी पुत्र था, परन्तु था वह तीक्ष्णबुद्धि वाला। जब धरणीजड़ अपने दोनों पुत्रों को वेद पढ़ाता तब उसे सुनकर कपिल भी सब याद कर लेता था। कपिल के वेद पढ़ने का रहस्य जानकर उस ब्राह्मण ने उसको जबरदस्ती निकाल दिया, परन्तु कपिल बाहर जाकर भी शीघ्र ही वेद-वेदान्त का पारगामी हो गया।

उसी जम्बूद्वीप के मलय देश में रत्नसंचयपुर नाम का नगर था। वहाँ उपने पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म के उदय से श्रीषेण नाम का राजा (भगवान शान्तिनाथ का जीव) राज्य करता था। वह राजा कांतिवाला था, अत्यन्त रूपवान नीतिमार्ग की प्रवृत्ति कराने वाला था, शूरवीर तथा धीरवीर था, राजाओं के द्वारा पूज्य था। शुत्रओं को जीतने वाला और गुणों का समुद्र था। वह जिनधर्म में अपना मन लगाता था। शास्त्रों का ज्ञाता और सत्यनिष्ठ था। वह सुखसागर में निमग्न हमेशा पात्रदान करता रहता था। गुरुओं में भक्ति-भाव रखता था। सदाचारी, विवेकी, पुण्यवान तथा उत्तम था। वह हार, कुंडल, मुकुटादि आभूषणों से सुशोभित था और अपने रूप से कामदेव को जीतता था, इसप्रकार राज्यलक्ष्मी को वश में करनेवाला श्रीषेण राजा अपने शुभकर्म के उदय से न्यायपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करता था। उस श्रीषेण के पुण्यकर्म के उदय से रूपवती लावण्यवती तथा शुभलक्षणों से सुशोभित सिंहनिन्दिता तथा अनिन्दिता नाम की दो रानियाँ थी। सिंहनिन्दिता के शुभकर्म के उदय से चन्द्रमा के समान अत्यन्त रूपवान

तथा शुभलक्षणों से सुशोभित इन्द्र नाम का पुत्र था। तथा धर्म के प्रभाव से अनिन्दिता के रूपवान, गुणवान व ज्ञान-विज्ञान में पारगामी उपेन्द्र नाम का पुत्र था। जिस प्रकार पापों का नाश करने वाले मुनिराज सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार शुत्रुओं को जीतने वाला वह राजा दोनों सुन्दर पुत्रों से शोभायमान होता था।

उसी नगर में सात्यकी नामक ब्राह्मण रहता था। उसकी ब्राह्मणी का नाम जम्बू था। तथा गुणों से सुशोभित सत्यभामा नाम की पुत्री थी। धरनीजड़ का दासी पुत्र कपिल जनेऊ धारण करके ब्राह्मण के रूप में रत्नसंचयपुर नगर में आया। उसको रूपवान तथा वेदों का पारंगत जानकर सात्यकी ब्राह्मण अपने घर ले आया और उसके साथ अपनी पुत्री सत्यभामा का विवाह कर दिया। जब रात्रि में सत्यभामा को कपिल की नीच चेष्टाओं का पता लगा तब उसको 'यह उच्च कुल का नहीं है' यह चिन्ता होने लगी। वह विचारने लगी कि मनुष्यों को जहर पी लेना अच्छा है सर्प की संगति अच्छी है, जलती हुई अग्नि में कूद पड़ना अथवा पानी में कूद पड़ना अच्छा है, परन्तु नीच मनुष्यों की संगति करना अच्छा नहीं है – ऐसा जानकर वह पवित्र हृदय वाली धीर वीर सती सत्यभामा कपिल से विरक्त हो गई, परन्तु अपने मन में हमेशा दुःखी रहने लगी। इधर कर्म संयोग से धरणीजड़ गरीब हो गया। जब उसने कपिल के वैभव की बात सुनी तो वह धन की अभिलाषा से उसके पास आया। कपिल ने लोगों से कहा कि यह मेरे पिता हैं, तो लोगों ने उसका आदर-सत्कार किया। वह ब्राह्मण सुख पूर्वक कपिल और सत्यभामा के साथ रहने लगा।

एक दिन सत्यभामा धरणीजड़ ब्राह्मण को बहुत सारा धन देकर अत्यन्त विनय से कपिल के कुल के सम्बन्ध में पूछने लगी। ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि हे पुत्री ! इस दुष्ट ने ब्राह्मण का वेश कपटी धारण किया है।

आचार्य कहते हैं कि देखो ! कुटिलता से पैदा हुआ मूर्खों का महापाप भी कुष्ट रोग के समान प्रगट हो जाता है।

यह सुनकर पुण्यशालिनी सत्यभामा ने अपने शीलभंग के डर से कपिल का त्याग कर दिया। तथा रणवास में जाकर राजा की शरण ग्रहण करली। कपिल ने इतने दिनों तक कपट करने का पाप किया था, इसलिये राजा ने उसे गधे पर बैठाकर अपने देश से बाहर निकाल दिया। दान, पुण्य आदि गुणों से शोभायमान तथा शीलव्रत से विभूषित पवित्र सती सत्यभामा रणवास में सुख पूर्वक रहने लगी।

पुण्योपार्जन करने में हमेशा तत्पर श्रीषेण राजा पात्रदान देने के लिये प्रतिदिन स्वयं भावना भाता था, एक दिन अभिगति और अरिंजय नामक दो आकाशगामी चारणमुनि उसके घर पधारे। वे दोनों मुनिराज हर प्रकार के परिग्रहों से तो रहित थे, परन्तु गुणरूपी सम्पदा से रहित नहीं थे। वे सभी जीवों का हित करने वाले थे और धीर-वीर सदा ज्ञान-ध्यान में उत्साहित रहते थे। वे यद्यपि लौकिक स्त्री की वांछा से रहित थे, तथापि मुक्तिरूपी स्त्री में अत्यन्त मोहित थे। मनुष्य और देव सभी उनकी पूजा करते थे, वे तीनों काल सामायिक करते थे और रत्नत्रय से सुशोभित थे। वे इच्छा और अभिमान से रहित थे। मूलगुण और उत्तरगुणों की खान थे। तथा भव्यजीवों को संसाररूपी समुद्र से पार करने के लिये जहाज के समान थे। वे ज्ञानरूपी महासागर के पारगामी थे। पृथ्वी के समान क्षमा के धारक थे तथा कर्मरूपी ईंधन को जलाने के लिये दोनों अग्नि के समान थे। जल के समान स्वच्छ हृदय वाले थे। वायु के समान सब देशों में विहार करने वाले थे। अपने धर्म का उद्योत करने वाले थे। दोनों मुनि चौरासी लाख उत्तर गुणों से विभूषित थे तथा शील के अट्ठारह हजार भेदों से सुशोभित थे।

– ऐसे दोनों मुनिराज आहर के लिये राजा के यहाँ पधारे। जिसप्रकार अपरिमित खजाना देखकर गरीब मनुष्य प्रसन्न होता है, उसीप्रकार मनुष्यों को मोक्ष कराने वाले दो मुनिराजों को देखकर राजा श्रीषेण अत्यन्त आनन्दित हुआ। राजा ने मस्तक झुकाकर दोनों मुनिराजों के चरणों में नमस्कार किया। तथा 'तिष्ठ-तिष्ठ' कहकर दानों

को विराजमान किया। उत्कृष्ट दान देने में तत्पर उस राजा को **श्रद्धा, भक्ति, शक्ति, निर्लोभपना, ज्ञान, दया और क्षमा से दाताओं के सात गुण** प्रगट हुए थे। **प्रतिगृह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, कायशुद्धि, वचनशुद्धि, मनशुद्धि और आहारशुद्धि** ये नो प्रकार की भक्ति – नवधाभक्ति गुणों की खान कहलाती है। ये पुण्यों को प्राप्त कराने वाली है। दान के समय राजा ने यह नवधाभक्ति की थी। जो विशुद्ध, प्रासुक हो, मिष्ट हो, कृत आदि दोषों से रहित हो, मनोज्ञ हो और छहो रसों से परिपूर्ण हो। तथा ध्यान-अध्ययन आदि का वृद्धिकारक हो उसे श्रेष्ठ आहार कहते हैं। उपरोक्त सातों गुणों से सुशोभित उस राजा ने मोक्ष प्राप्त करने के लिये उन दोनों चारण मुनियों को विधि पूर्वक तृप्त करने वाला उत्तम भोजन दिया। राजा की दोनों रानियों ने श्रेष्ठ दान की अनुमोदना की और भक्ति पूर्वक सुश्रुषा, प्रणाम तथा विनयादि द्वारा बहुत पुण्य प्राप्त किया। सत्यभामा ब्राह्मणी ने भी अत्यन्त भक्ति-भाव से मुनिराजों का आदर-सत्कार किया। अत: उनने भी रानियों के योग्य सत्कार्य कर पुण्य प्राप्त किया। सत्य है कि अच्छे परिणामों से क्या-क्या नहीं मिलता। दोनों मुनिराजों ने समभाव से आहार लिया और उस घर को पवित्र करके शुभाशीर्वाद देकर वे आकाश मार्ग से गमन कर गये। उस दान से उत्पन्न हुए आनन्द रस से जिसका मन अत्यन्त तृप्त हो रहा है – ऐसा वह राजा अपने को कृतकृत्य मानने लगा और अपने गृहस्थाश्रम को सफल मानने लगा।

कौशाम्बी नगर में एक महाबल नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम श्रीमती था। तथा उन दानों के श्रीकान्ता नाम की पुत्री थी। रूप लावण्य आदि गुणों से विभूषित श्रीकान्ता का विवाह पुण्य कर्म के उदय से राजा श्रीषेण के पुत्र इन्द्र के साथ विधिपूर्वक हुआ था। उसी राजा के अनन्तमती नाम की विलासिनी (नौकरानी) थी, जो रूपवती तथा गुणवती थी। राजा ने स्नेह भेंटस्वरूप वह अनन्तमती (विलासिनी) श्रीकान्ता के साथ ससुराल

भेज दी; परन्तु अनन्तमती (विलासिनी) रूपवान उपेन्द्र पर मोहित होकर उसके साथ कामभोग आदि करके भ्रष्टा हो गई। इधर उपेन्द्र का भाई तथा श्रीकान्ता का पति भी उस विलासनी के रूप पर मोहित होकर उसे चाहने लगा। इसप्रकार वे दोनों भाई इन्द्र और उपेन्द्र उसके लिए युद्ध करने लगे।

आचार्य कहते हैं कि देखो, मनुष्यों के ऐसे भोगादि सुखों को धिक्कार है कि जिनके लिये भाई-भाई में युद्ध हो। यह बातें सुनकर राजा श्रीषेण को अपनी आज्ञा भंग होने का बहुत ही दुःख हुआ। इस कारण वह विषफल सूंघकर मर गया। तत्पश्चात् धातकीखण्ड द्वीप में पूर्व मेरू की उत्तर दिशा में उत्तरकुरू नाम की सुख देने वाली भोगभूमि में लावण्य आदि से सुशोभित आर्य हुआ। उनकी रानी सिंहनिन्दिता भी उसी विषफल को सूंघकर मर गई तथा प्रदत्त दान से पैदा हुए पुण्य के प्रभाव से उसी भोगभूमि में उसी आर्य की आर्या हुई। दूसरी रानी अनिन्दिता भी ऐसे ही मरकर स्त्रीलिंग छेदकर महापुण्योदय से उसी भोगभूमि में आर्य हुई और राजा के रह रही सत्यभामा ब्राह्मणी भी उसी प्रकार से प्राणों का त्याग करके धर्म के प्रभाव से उस अनिन्दिता आर्य की आर्या हुई। आचार्य कहते हैं कि देखो ! अपमृत्यु तथा अपघात से मरकर भी केवल उस महादान के फलस्वरूप वे सब शुभगति को प्राप्त हुए थे, इसलिये कहते हैं कि दान देना उत्तम है।

दोनों भाई जब उस विलासिनी के लिए युद्ध कर रहे थे, तभी पूर्वभव के स्नेहवश वहाँ एक मणिकुण्डल नामक विद्याधर आया और उन्हें युद्ध करने से रोककर उनसे करने लगा कि हे राजकुमारो! मैं तुम्हारा पूर्वभव का सम्बंधी हूँ, मैं तुम्हें एक कथा कहता हूँ उसे तुम ईर्ष्याभाव छोड़कर तथा शान्तचित्त होकर सुनो ! क्योंकि यह कथा तुम्हारा ही हित करने वाली है। वे भी अपने लिए हितकारी जानकर आपस में लड़ना बंद करके ध्यानपूर्वक वह कथा सुनने लगे।

देखो ! धातकीखण्ड द्वीप में पूर्व मेरू सम्बन्धी पूर्व विदेहक्षेत्र है। जो सद्धर्म और तीर्थंकरादि से सुशोभित है। उस क्षेत्र के पुण्यकलावती नामक देश में एक रूपाचल नाम का पर्वत शोभायमान है, जो कि ऊँचा है, जिन-चैत्यालयों से विभूषित है तथा मेरू के समान दिखता है। उस पर्वत की दक्षिण श्रेणी में आदित्याभ नाम का सुन्दर नगर है। उसमें पुण्यकर्म के उदय से कुण्डल से सुशोभित सुकुण्ड नाम का राजा राज्य करता था, उसकी रानी का नाम अमिततेजसेना है। मैं उन दोनों का पुत्र मणिकुण्डल हूँ।

पुण्डरीकिणी नगरी में अतिप्रभ नामक केवली भगवान के पास जाकर उनको नमस्कार करके मैंने अपने पूर्व भव की कथा पूछी थी। भगवान ने जो कथा मुझसे कही थी वही कथा मैं तुमको कहना चाहता हूँ; क्योंकि तीर्थंकर वाणी में आई हुई वह कथा बहुत ही सुन्दर और तुम दोनों की हितकारक है। देखो ! पुष्करद्वीप में जिन चैत्यालयों का आश्रयभूत पश्चिम मरु पर्वत है, उसकी पूर्व तरफ त्रिवर्णाश्रम से सुशोभित विदेहक्षेत्र है। उसमें एक वीतशोका नगरी है। उसमें चक्रायुध नाम का राजा राज्य करता था तथा उसकी पुण्यशालिनी रानी का नाम कनकमाला था। कनकमाला की कनकलता तथा पद्मलता नाम की दो पुत्रियाँ थी। उसी राजा की विदुन्मती नाम की दूसरी पतिव्रता रानी थी। उसके पद्मावती नाम की पुत्री थी। सब मिलकर धर्म के प्रभाव से अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग करते थे।

एक दिन रानी कनकमाला पुण्यकर्म के उदय से अपनी दोनों पुत्रियों के साथ अमितसेना आर्यिका के पास पहुँची और उनके समीप जाकर नमस्कार किया तथा काललब्धि प्राप्त हो जाने से सबने गृहस्थधर्म स्वीकार किया। वे सब सम्यग्दर्शन पूर्वक व्रतों का पालन करके प्रभाव से स्त्रीलिंग को छेदकर सौधर्म स्वर्ग में महाऋद्धिधारी देव हुए। पद्मावती भी मरकर अपने पुण्योदय से सौधर्म स्वर्ग में एक अप्सरा हुई, जो कि अत्यन्त गुणवती थी। वे सभी देव धर्म के प्रभाव

से उत्पन्न हुए इन्द्रियों को तृप्त करने वाले उत्तम सुख और ऋद्धियों से उत्पन्न हुए सुख का अनुभव करने लगे। अपनी आयु पूर्ण होने के बाद उन सभी ने वहाँ से चयकर पुनर्जन्म धारण किया। उनमें से कनकमाला का जीव मैं मणिकुण्डल, कनकलता, पद्मलता दोनों पुत्रियों का जीव, स्वर्ग से देव पर्याय छोड़कर अवशेष पुण्यकर्म के उदय से तुम दोनों इन्द्र तथा उपेन्द्र नामक राजपुत्र हुए हो। तथा पद्मावती का जीव, जो सौधर्म स्वर्ग में अप्सरा हुई थी, वहाँ से चयकर यह रूपवती अनन्तमती विलासिनी बनी है। मैं १००८ श्री अमितप्रभ तीर्थंकर के मुख से यह शुभ तथा उत्तम कथा सुनकर पूर्वजन्म के स्नेहवश तुमको समझाने आया हूँ।

इस कथा को सुनकर वे दोनों भाईयों ने अपनी निन्दा करके संसार से विरक्त होकर शुभकर्म के उदय से सुधर्म नामक मनिराज के पास जाकर मुनिराज को नमस्कार किया एवं संसार से उदास (विरागी) होकर बाह्य व अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करके उत्कृष्ट संयम धारण किया। उन दोनों मुनिराजों ने शुक्लध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को शीघ्र ही जला दिया तथा उसके फलस्वरूप केवलज्ञान प्राप्त किया। और वे दोनों शुक्लध्यानरूपी तलवार से समस्त कर्मों का नाश करके मोक्ष पधारे, अनन्त गुणों के पात्र बन गये। अनन्तमति ने भी श्रावक के सम्पूर्ण व्रत धारण किये और धर्म के प्रभाव से स्वर्ग में उत्पन्न हुई। सत्य है कि सज्जनों के अनुग्रह से क्या-क्या प्राप्त नहीं होता।

देखो ! श्री शान्तिनाथ के पूर्व के एक भव में उनके दो पुत्र एक दासी के लिए अन्दर ही अन्दर लड़ते हैं और फिर उसी प्रसंग को निमित्त बनाकर वैराग्य प्राप्त करते हैं, "मैं वर्तमान में परिपूर्ण भगवान ही हूँ" – ऐसी दिव्यदृष्टि करके वे दोनों भाई शिवसुन्दरी को वरते हैं।

यहाँ आचार्य देव फरमाते हैं कि **पापी जीव भी चैतन्य की अनन्तशक्ति की सामर्थ्य के विश्वास के बल से भवसागर से पार हो जाता है।**

– शान्तिनाथ पुराण पर आधारित

जीवन का मोल समझो

एक व्यापारी ने हेर-फेर के बाद जब तीन लाख अशर्फियाँ जमा कर लीं, तो उसकी इच्छा हुई कि वह इस दौलत से अपने सभी शौक पूरे कर ले। खूब ऐश उड़ाये। उसने हमेशा की तरह तिजोरी खोली और सभी अशर्फियाँ गिनना शुरु ही किया था कि यमराज को खड़ा पाया। वह व्यापारी को लेने आया था। यह सुनकर उसके होश उड़ गए। आखिर वह यमराज से मिन्नतें करने लगा कि उसे थोड़े समय और जी लेने दिया जावे।

उसने यमराज से जीवन के लिए केवल तीन दिन और माँगे तथा बदले में वह एक लाख मोहरें देने को तैयार हो गया, किन्तु मौत का सौदागर यमराज न माना। इस पर व्यापारी ने यमराज से जीने के लिए केवल दो दिन माँगे और बदले में दो लाख अशर्फियाँ देने को राजी हो गया, पर यमराज टस से मस न हुआ, यहाँ तक की व्यापारी की सारी सम्पत्ति लेने से इंकार कर दिया।

अब व्यापारी ने कहा कि तुम मुझे एक छोटा सा पत्र ही लिख लेने दो, फिर मुझे यमलोक ले जाना। इस पर मृत्यु देवता मान गया। व्यापारी द्वारा एक कागज पर लिखा सन्देश इस प्रकार था – **"हे इन्सान! अपनी जिन्दगी के हर पल का फायदा उठा। अच्छी तरह जी। अच्छे काम कर। दूसरों पर दया कर। सन्तोष से जो प्राप्त हो उसे सार्थक समझ। वक्त का मूल्य पैसे से अधिक है। आज मैं तीन लाख अशर्फियों के बदले जीवन के दो पल भी नहीं खरीद सका।"**

जीवन का एक क्षण करोड़ों स्वर्ण मुद्राएँ देने पर भी नहीं मिलता। अत: जीवन का मोल समझो और अपने स्वभाव की दृष्टि, स्वभाव का ज्ञान व स्वभाव का आश्रय करना ही जीव का एकमात्र कार्य है/कर्त्तव्य है। इसके लिए प्रतिदिन देव-शास्त्र-गुरु की मंगल आराधना, स्वाध्याय आदि द्वारा अपने आत्मस्वभाव का निर्णय करना चाहिए। तभी मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

साहित्य प्रकाशन फण्ड

४०१/- रु. देने वाले –

अरस्तु ह. रेशु अंकित चौपड़ा, खैरागढ़
स्व. सबदूचन्द ह. श्री पारसमल नेमीचन्द चौपड़ा, खैरागढ़
चेतना बैन, देवलाली

३०१/- रु. देने वाले –

निश्चल, निधि ह. सरला जैन, खैरागढ़

२५१/- रु. देने वाले –

श्री ढेलाबाई चैरे. ट्रस्ट, खैरागढ़ ह. शोभा मोतीलाल जैन, खैरागढ़
श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचंद ह. श्रुति अभयकुमार जैन, खैरागढ़
श्रीमती रजनी कमलेश जैन, खैरागढ़
झनकारी बाई खेमराज बाफना चैरे. ट्रस्ट, खैरागढ़
ब्र. ताराबेन मैनाबेन जैन, सोनगढ़
सौ. मनोरमा विनोद कुमार जैन, जयपुर
रुनझुन चुनमुन कोथरा भिलाई
एन.एस. लीला चौधरी, भिलाई
श्रीमती पुष्पा बैन भोपाल जैन, दिल्ली

२०१/- रु. देने वाले –

आत्मन् समीर कामदार, मुम्बई
वसु बैन जैन, अहमदावाद
भारती बैन टोलिया, अमेरिका
शीतलचन्द गौतमचन्द जैन, खैरागढ़
श्रीमती कल्पना अनिल जैन, खैरागढ़
श्री श्वेता-उमेश, वंदना-महेश छाजेड़, खैरागढ
श्रीमती ममता-रमेशचन्द जैन, जयपुर

१५१/- रु. देने वाले –

श्रीमती रक्षा रवीन्द्र कुमार जैन, दुर्ग
श्रीमती साधना संजय ढोसानी, भिलाई

१०१/- रु. देने वाले –

बनीता बैन प्रफुल्ल भाई कामदार, हैदरावाद
चिंतन प्राप्ति भावेश कामदार ह. कुन्दन बैन, हैदरावाद
राशि हर्ष धमेश कामदार ह. वसंत भाई, हैदरावाद
विलास बैन, सोनगढ़
स्वर्णा प्रदीपकुमार जैन, खैरागढ

हमारे प्रकाशन

१.चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी)	५०/-
[५२८ पृष्ठीय प्रथमानुयोग का अद्वितीय सचित्र ग्रंथ]	
२.चौबीस तीर्थंकर महापुराण (गुजराती)	४०/-
[४८३ पृष्ठीय प्रथमानुयोग का अद्वितीय सचित्र ग्रंथ]	
३.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १)	७/-
४.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग २)	७/-
५.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ३)	७/-
(उक्त तीनों भागों में छोटी-छोटी कहानियों का अनुपम संग्रह है।)	
६.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ४) **महासती अंजना**	१०/-
७.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ५) **हनुमान चरित्र**	१०/-
८.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ६)	७/-
(अकलंक-निकलंक चरित्र)	
९.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ७)	१२/-
(अनुबद्धकेवली श्री जम्बूस्वामी)	
१०.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ८)	७/-
(श्रावक की धर्मसाधना)	
११.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ९)	१०/-
(तीर्थंकर भगवान महावीर)	
१२.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १०) **कहानी संग्रह**	७/-
१३.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ११) **कहानी संग्रह**	१०/-
१४.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १२) **कहानी संग्रह**	१०/-
१५.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १३) **कहानी संग्रह**	१०/-
१६.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १४) **कहानी संग्रह**	७/-
१७.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १५) **कहानी संग्रह**	७/-
१८.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १६) **नाटक संग्रह**	७/-
१९.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १७) **नाटक संग्रह**	७/-
२०.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १८) **कहानी संग्रह**	७/-
२१.जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १९) **कहानी संग्रह**	१०/-
२२.अनुपम संकलन (लघु जिनवाणी संग्रह)	६/-
२३.पाहुड़-दोहा, भव्यामृत-शतक व आत्मसाधना सूत्र	५/-
२४.विराग सरिता **(श्रीमद्जी की सूक्तियों का संकलन)**	५/-
२५.लघुतत्त्वस्फोट (गुजराती)	
२६.भक्तामर प्रवचन (गुजराती)	
२७.अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स)	१०/-

हमारे प्रेरणा स्रोत : ब्र. हरिलाल अमृतलाल मेहता

जन्म
वीर संवत् २४५१
पौष सुदी पूनम
जैतपुर (मोरबी)

देहविलय
८ दिसम्बर, १९८७
पौष वदी३, सोनगढ़

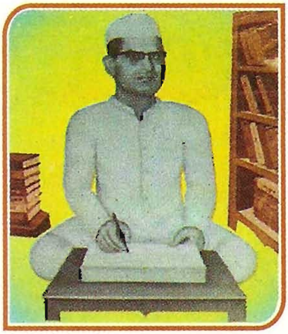

सत्समागम
वीर संवत् २४७१
(पूज्य गुरुदेव श्री से)
राजकोट

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा
वीर संवत् २४७३
फागण सुदी १
(उम्र २३ वर्ष)

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अंतेवासी शिष्य, शूरवीर साधक, सिद्धहस्त, आध्यात्मिक, साहित्यकार **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन** की १९ वर्ष में ही उत्कृष्ट लेखन प्रतिभा को देखकर वे सोनगढ़ से निकलने वाले आध्यात्मिक मासिक **आत्मधर्म** (गुजराती व हिन्दी) के सम्पादक बना दिये गये, जिसे उन्होंने ३२ वर्ष तक अविरत संभाला। पूज्य स्वामीजी स्वयं अनेक बार उनकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से इस प्रकार करते थे-

"मैं जो भाव कहता हूँ, उसे बराबर ग्रहण करके लिखते हैं, हिन्दुस्तान में दीपक लेकर ढूँढने जावें तो भी ऐसा लिखने वाला नहीं मिलेगा...।"

आपने अपने जीवन में करीब १५० पुस्तकों का लेखन/सम्पादन किया है। आपने बच्चों के लिए **जैन बालपोथी** के जो दो भाग लिखे हैं, वे लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने समग्र जीवन की अनुपम कृति **चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण**-इसे आपने ८० पुराणों एवं ६० ग्रन्थों का आधार लेकर बनाया है। आपकी रचनाओं में प्रमुखतः आत्म-प्रसिद्धि, भगवती आराधना, आत्म वैभव, नय प्रज्ञापन, वीतराग-विज्ञान (छहढ़ाला प्रवचन, भाग १ से ६), सम्यग्दर्शन (भाग १ से ८), अध्यात्म-संदेश, भक्तामर स्तोत्र प्रवचन, अनुभव-[illegible] प्रवचन, ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, मूल में भूल, अ[illegible]कलंक (नाटक), मंगल तीर्थयात्रा, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान हनुमान, दर्शनकथा, महासती अंजना आदि हैं।

२५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर किये कार्यों के उपलक्ष्य में, जैन बालपोथी एवं आत्मधर्म सम्पादन इत्यादि कार्यों पर अनके बार आपको स्वर्ण-चन्द्रिकाओं द्वारा सम्मानित किया गया है।

जीवन के अन्तिम समय में आत्म-स्वरूप का घोलन करते हुए समाधि पूर्वक **"मैं ज्ञायक हूँ...मैं ज्ञायक हूँ"** की धुन बोलते हुए इस भव्यात्मा का देह विलय हुआ-यह उनकी अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता थी।

मुद्रण व्यवस्थाः जैन कम्प्यूटर्स, जयपुर मो. 09414717816, ई-मेलः jaincomputers74@yahoo.co.in